कैलास विद्यालोकस्य षड्विंशः सोपानः

श्रीमत्तोटकाचार्यविरचितं

श्रुतिसारसमुद्धरणं वा तोटकं

यतीन्द्रकुलतिलक श्री कैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामीविद्यानन्दगिरि विरचित-
गिरिसम्भूतरत्नविभूषिम्

सम्पादकौ
स्वामी केशवानन्द सरस्वती, ब्र० रामानन्द शास्त्रीच

प्रकाशक :
श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति, ऋषिकेश

प्रथम संस्करण १००० १९७२
द्वितीय संस्करण २००० १९७८
वि० २०२९, सं० लि०, लि० स०
श्री दलपति एम् पुरोहित, अहमदाबाद-८

मूल्य ५) रुपये

पुस्तक प्राप्ति स्थान

१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ. प्र.)
२. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी (उ. प्र.)
३. श्री दक्षिणामूर्ति सं. म. विद्यालय मिश्रपोखरा, वाराणसी
४. श्री चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
५. श्री चौखम्बा विश्व भारती, चौक, वाराणसी-२२१००१
६. श्री मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-२२१००१

ॐ

प्राक्कथन

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः।

अनादिकाल से सभी प्राणियों के हृदय में यही अभिलाषा रही है कि हम आध्यात्मिकादि समस्त दुःखों से छूट जावें और परमानन्द को प्राप्त कर लेवें। इस अभिलाषा का नाम ही मुमुक्षा है। यद्यपि लोक में धर्म, अर्थ और काम की ओर भी प्रवृत्त होते देखे जाते हैं तथापि इन पुरुषार्थों को प्राप्त करके भी प्राणियों की अतृप्ति मुमुक्षा का ही द्योतक है। ऐसी मोक्षाभिलाषा की पूर्त्ति ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के बिना किसी भी दृष्ट या आनुश्रविक उपाय से हो नहीं सकती। इसे "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" श्रुति स्वयं कह रही है। अतः जीव और ब्रह्म की एकता का अपरोक्ष ज्ञान ही उसके अज्ञान एवं तज्जन्य सम्पूर्ण दुःखों का नाशक है। उक्त प्रकार का ऐक्यबोध वेद के शिरोभाग उपनिषद् के विचार से ही सम्भव है। उपनिषदर्थ का विचार गुरु उपसत्तिपूर्वक करना चाहिये, ऐसा "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्", 'तद्विद्धि प्रणिपातेन···श्रुति स्मृति वाक्यों में कहा गया है।

महेश्वर पारावतार भगवत्पूज्यपाद जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जी ने वेद के न मानने वाले नास्तिकों एवं वेदार्थ में विभ्रान्त वेद विपरीत अर्थ करने वाले आस्तिकों को प्रस्थानत्रयी भाष्य तथा अनेक प्रकरण ग्रन्थों की रचना कर सन्मार्ग का प्रदर्शन किया है जिससे संपूर्ण विश्व का महान उपकार हुआ है। इसलिये मानवसमाज उसका ऋणी है। आचार्यश्री ने अध्यात्मप्रधान संपूर्ण भारत वर्ष में अनेकबार भ्रमण करके भी वैदिकधर्म तथा सिद्धान्त का प्रचार किया। उनके पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य और तोकटाचार्य

नामक चार प्रधान शिष्य थे। इनमें से श्री तोटकाचार्यजी अनन्य गुरु भक्त थे। अहर्निश आचार्यश्री की सेवा में लगे रहते थे। इन्हें लोग आनन्दगिरि या गिरि नाम से भी सम्बोधित करते थे। ये ग्रन्थाध्ययन को गौण और आचार्य सेवा को प्रधान मानते थे। इसी से आचार्यश्री की महती अनुकंपा इनके ऊपर रहा करती थी। स्वाध्याय के समय अपने अनन्य भक्त गिरि की अनुपस्थिति में वे पाठ नहीं चलाते थे। आचार्य की अनन्य सेवा के फलस्वरूप इनको संपूर्ण श्रुतियों का तात्पर्य अवगत हो गया था। उसी का ग्रथन इस प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने किया है। सार रूप से समस्त श्रुतियों का उद्धरण करनेके कारण ही इसका नाम 'श्रुतिसारसमुद्धरणम्' रखा गया है एवं तोटक वृत्त में होने से इसे 'तोटक' भी कहते हैं। "वद तोटकमब्धिसकारयुतम्" "इह तोटकमम्बुधिसैःप्रथितम्" इत्यादि सूत्र के अनुसार चार सगणवाले छन्द को तोटक दहते हैं। इस तोटक वृत्त में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। सम्भवतः इसके बाद ही श्री गिरि का नाम तोटकाचार्य जी पड़ा होगा। श्री तोटकाचार्य जी को उत्तराम्नाय ज्योर्तिमठ में अध्यक्षरूपेण नियुक्त किया था। तब से मठाम्नाय के अनुसार ज्योतिष्पीठ पर गिरि पर्वत तथा सागर नामा दशनाम सन्यासी आचार्य ही अध्यक्ष होते आये हैं क्योंकि प्रारंभ में गिरि नाम (स्वामी आनन्द गिरि) संन्यासी इसी पीठ पर प्रतिष्ठित हुए तो बाद में भगवान् शङ्कराचार्य निर्मित मठाम्नाय के विरुद्ध अन्य का अध्यक्ष होना उचित नहीं जान पड़ता है। प्रस्थानत्रयी शाङ्करभाष्य के ऊपर आनन्दगिरि नामक टीकाकार के विषय में निश्चित् नहीं कहा जा सकता है कि ये उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी आनन्दगिरि ही थे अथवा इस टीका के लेखक आनंसगिरि कोई अन्य थे। पर प्रस्थानत्रयो शाङ्करभाष्य की आनन्दगिरि नामक टीका लेखक के अद्भुत पाण्डित्य के विषय में सर्वमान्य निश्चित् मत है कि इनमें अनुपम प्रागल्भता, आचार्य भक्ति एवं पाण्डित्य थे, जो अन्यत्र दीखते

नहीं। अतएव वेदांत संप्रदाय परंपरा में प्रसिद्ध है कि शाङ्करभाष्य की मर्मस्पर्शी व्याख्या आनन्दगिरि ही है। इसके बिना शाङ्करभाष्य का आशय स्फुट नहीं होता। इसलिए दार्शनिक जगत् के लिए यह अनुपम देन है। अस्तु, श्रीमत्तोटकाचार्य विरचित यह तोटक ग्रंथ भी अनुपम है। इसमें जगन्मिथ्यात्व एवं ब्रह्मात्मैक्य साधक तर्क अत्यंत मर्मस्पर्शी है।

इसकी एक संस्कृत टीका देखने को मिली और उसी के आधार पर लिखा गया एक हिन्दी अनुवाद भी देखा। जो किसी अंश में वेदांतानुरागियों के लिये उपयोगी है। इसका विद्वत्समाज एवं जनसामान्य में अत्यंत न्यूनतम प्रचार है। फिर भी श्री कैलास आश्रम की अध्ययन परम्परा में समय-समय पर इसका भी समावेश होता रहा है। विगत वर्षों में श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सकल-शास्त्र-निष्णात आचार्य-प्रवर महालण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी चैतन्यगिरि जी महाराज ने आश्रम में तथा बाहर भी कई बार इसका स्वाध्याय करवाया। सुमधुर स्वर में जब आचार्य श्री इसका पाठ करते थे, तो यतिमण्डल तथा अन्य श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो पीछे-पीछे गान करते थे और इसका व्याख्यान आचार्यश्री के मुखारविन्द से सुनते थे। क्रमशः श्रोताओं की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है कि प्रयत्न करने पर भी सबके लिए पुस्तक प्राप्त न हो सकी। अतः आचार्यश्री ने मुझे आदेश दिया कि आप श्रुतिसारसमुद्धरणं का अन्वयार्थ तथा भावार्थ सरल सुबोध भाषा में लिख कर प्रकाशित करवायें। जो पाठकों की आवश्यकता पूर्ति के साथ-साथ ग्रन्थ के अभिप्राय को स्फुट कर सके। इसी आदेश के अनुसार इसकी व्याख्या लिखने में मेरी प्रवृत्ति हुई। इसमें हम कितना सफल हुए हैं, इसे तो पाठक ही बतलायेंगे।

श्रीगिरि निर्मित तोकट ग्रंथ के ऊपर श्रीगिरि के आदेशानुसार गिरि नामा यति ने व्याख्या लिखी है । इसीलिये इसका नाम 'गिरिसम्भूतरत्न' रखा गया है ।

इस व्याख्या के लिपि बद्ध करने में अहमदाबाद निवासी श्री दलपति एम्. पुरोहित जी ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सहयोग प्रदान किया है । इसके द्वितीय संस्करण के सम्पादन में श्री स्वामी केशवानन्द जी एवं ब्र० रामानन्दजी शास्त्री ने अथक परिश्रम किया है । हम इन सभी पुण्यात्माओं की मंगल कामना आशुतोष भगवान शङ्कर से चाहते हैं । आशा है, पाठकगण इस प्रस्तुत पुस्तक से लाभ उठाकर अपना जीवन सफल बनायेंगे । इत्योंशम् ।

मेषसंक्रान्ति
२०३५ विक्रमाब्द

भगवत्पादीय
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि

श्रुतिसारसमुद्धरणं वा तोटकम्

इष्टदेव तथा आचार्य की वंदना

त्रैलोक्यनाथहरिमीड्यमुदारसत्त्वं,

शक्तेस्तनूजतनयं परमेष्ठिकल्पम् ।

जीमूतमुक्तविमलाम्बरचारुवर्णं,

वासिष्ठमुग्रतपसं प्रणतोस्मि नित्यम् ॥१॥

अनुवाद—तीनों लोकों के स्वामी तथा अज्ञान एवं अज्ञान जनित संपूर्ण दुःखों के नाशक, सर्वोत्कृष्ट सत्त्वगुण संपन्न, स्तुति के योग्य, अद्वितीय ब्रह्म को और शक्तिपुत्र पराशर के पुत्र, ब्रह्मा के तुल्य, बादल रहित निर्मल आकाश के समान सुन्दर श्यामवर्ण, वसिष्ठ गोत्रोत्पन्न परम तपस्वी महर्षि वेदव्यास को मैं नित्य निरंतर प्रणाम करता हूँ ।

रत्नव्याख्या—इस प्रथम श्लोक में ग्रंथकार ने सर्वाधिष्ठान परम करुणामय परमात्मा को और आचार्य को नमस्कार करते हुये यह सूचित किया है कि सनातन वैदिक परंपरा के अनुसार ग्रंथारंभ में इष्ट-देव तथा आचार्यदेव की वंदना अवश्य करनी चाहिये। इसमें परमेश्वर के तीन विशेषण लगाये गये हैं त्रैलोक्यनाथ हरि, ईड्य तथा उदार-सत्त्व। इन तीनों विशेषणों का तात्पर्य यह है कि जो स्वरूप से "भू-र्भुवः स्वः" इन तीनों लोकों का अधिष्ठान हैं और अपने साक्षात्कार से जीव के हृदय में स्थित अविद्या एवं तज्जनित त्रिविध ताप को नष्ट कर देने वाला है। परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये तत्त्व-मसि इत्यादि महावाक्य ही एकमात्र प्रमाण माने गये हैं। इस अर्थ को उदारसत्त्व विशेषण से ग्रंथकार सूचित कर रहे हैं। इन पूर्ववत् विशेषणों से विशिष्ट तत्त्व ही संसार में स्तुति करने योग्य माना गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य की वंदना करते हुये गुरुपरंपरा को भी ग्रंथकार ने सूचित किया है। अद्वैत संप्रदाय में "नारायणं पद्मभवं वसिष्ठम्" इत्यादि प्राचीनतम परंपरा सूचक श्लोकों में शक्ति के पुत्र पराशर को कहा है और पराशर के आत्मज कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को माना है, जो विष्णु के अवतार होने के कारण ज्ञान आदि गुणों में ब्रह्मा के तुल्य शरीर से मेघमुक्त स्वच्छ आकाश के समान श्याम-वर्ण हैं। वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उन्हें वासिष्ठ कहा है और जिनका ज्ञानमय तप सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि वे ज्ञानावतार माने गये हैं। विश्व कल्याणार्थ इनका अवनि पर अवतार हुआ और वेदों का विभाग तथा इतिहास-पुराण द्वारा विस्तार करने के कारण इनका नाम वेदव्यास पड़ गया। ये स्तुति के योग्य हैं। इस प्रकार इष्टदेव और आचार्य की वंदना करते हुये शिष्य-परंपरा को ग्रंथकार आदेश दे रहे हैं कि ग्रंथ के आरंभ में मंगलाचरण अवश्य ही करना चाहिये ॥१॥

अनुबन्ध चतुष्टय निरूपण

सकलं[४] मनसा क्रियया[२] जनितं[३],
समवेक्ष्य[८] विनाशितया[७] तु[६] जगत्[५] ।
निरविद्यत[११] कश्चि[१]दतो[९] निखिला[१०]-
दविनाशि[१३]कृतेन[१२] न[१४] लभ्यमिति[१५] ॥२॥

कोई विरला पुरुष ही क्रिया से उत्पन्न होने वाले संपूर्ण विश्व को विवेकयुक्त मन से भली प्रकार बिचार कर और इसे विनाशी समझकर संपूर्ण संसार से वैराग्य को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह इस बात को भली प्रकार जान लेता है कि अविनाशी तत्त्व नित्यमुक्त ब्रह्म क्रिया से प्राप्त नहीं हो सकता।

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् । साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादि चतुष्टयम् ॥ इस भगवत्पादीय वचन के अनुसार निष्काम भाव से स्वधर्माचरणशील व्यक्ति कोई विरला हुआ करता है। ऐसा पुरुष अपने विवेकयुक्त मन से चिंतन करता है कि जो क्रियाजन्य होता है, वह अनित्य होता है। इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के सभी भोग सामग्री क्रियाजन्य हैं क्योंकि बाह्याभ्यान्तर व्यापार से ये सब प्राप्त होते हैं। क्रियाजन्य वस्तु अनित्य होती है। यह प्रत्यक्षादि प्रमाण से तथा "तद्यथेह कर्मचितो लोकःक्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते" ॥ (छा० ८।१।६) जैसे इस संसार में

कर्म से संचित सत्यादिलोक काल पाकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही पुण्य से संचित स्वर्गादिलोक और वहाँ के भोग भी काल पाकर नष्ट हो जाते हैं। अतः इन्हें नाशवान् समझकर इनसे वह विरक्त हो जाता है। वह इस बात को खूब जानता है कि अविनाशी केवल परब्रह्म है। उसकी प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं, वह कभी भी कर्म से नहीं मिल सकता। इस श्लोक में "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्-ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतःकृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि-गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० १।२।१२) [कर्म से उत्पन्न संपूर्ण लोकों की मुमुक्षु ब्राह्मण परीक्षा कर विरक्त हो जाता है। वह निश्चय कर लेता है कि नित्य मोक्ष कर्म से नहीं मिल सकता है। अतः मोक्षतत्त्व को जानने के लिये वह हाथों में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जावे]। इस श्रुति का ही बिचार इस श्लोक में किया गया है। इससे यह सूचित किया कि विवेक वैराग्यादि साधन-चतुष्टय संपन्न पुरुष इस ग्रंथ का अधिकारी है। मोक्ष इसका प्रयोजन है। जीव ब्रह्म का ऐक्य इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है और अधिकारी तथा मोक्ष के साथ प्राप्य-प्रापक भाव आदि सम्बन्ध हैं ॥२॥

मुमुक्षु की गुरु शरणागति

[३]प्रतिपित्सु—[१]रसाव[२]विनाशिपदं,

[४]यतिधर्मरतो [७]यतिमेव [८]गुरुम्।

५ ८ ६

विदितात्म–सतत्त्वमुपेत्य कविं,

१० १२ ११

प्रणिपत्य निवेदितवान्स्वमतम् ॥३॥

अविनाशी पद के जानने की इच्छा वाला वह यति धर्म में निरत अधिकारी पुरुष आत्मा के सहित तत्त्व को जानने वाले सर्वज्ञ यति गुरु को ही विधिपूर्वक शरणापन्न होकर नमस्कार कर स्वाभिप्राय प्रकट करता है।

पूर्वोक्त श्लोकानुसार विवेकादि साधन संपन्न पुरुष परमात्म-तत्त्व का जिज्ञासु माना गया है। वह स्वभाव से संन्यास धर्म का अनुसरण करता है क्योंकि चतुर्थाश्रमी संन्यासी वेदांत के मुख्य अधिकारी माने गये हैं। अन्य आश्रमों में आश्रम धर्म के अनुष्ठान-रूप विक्षेप होने के कारण "आसुप्तेरामृतः कालं नयेद्वेदांतचिन्तया" इस सूक्ति के अनुसार निरंतर वेदांत का चिंतन होना कठिन है। अतः वह संन्यास धर्म में संलग्न पुरुष विधिवत् गुरु की शरण में जाकर अपना अभिप्राय प्रगट करता है। संसार और मोक्ष के रहस्य को जानने के कारण गुरु को 'कवि' कहा है, जो आत्मा-परमात्मा की एकता में निरंतर स्थित है। ऐसे संन्यासी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ही वेदांत तत्त्व के उपदेशक कहे गये हैं। ऐसे गुरु ही शिष्य के हृदय में रहने वाले अज्ञानांधकार को श्रौतसिद्धांत के उपदेश द्वारा दूर कर सकते हैं॥ ३ ॥

आचार्य के पास जाकर शिष्य का मनोभाव व्यक्त करना

[1]भगवन्[4]नुदधौ [2]मृतिजन्मजले,

सुख[3]दुःखझषे [5]पतितं [6]व्यथितम् ।

[9]कृपया [8]शरणागत[10]मुद्धर[7]मा-

मनु[13]शाध्यु[12]पसन्न[11]मनन्यगतिम् ।।४।।

हे भगवन् ! जन्म-मरण रूप जल से पूर्ण सुख-दुःख रूप ग्राह से व्याप्त, संसार समुद्र में पड़े हुये मुझ शरणागत शिष्य का कृपा करके उद्धार करें । मैं आपका ही अनन्यभाव से शरणापन्न हूँ । मुझ शरणापन्न शिष्य को उपदेश करें ।

वैराग्यादि षड्विध ऐश्वर्य संपन्न को भगवान् कहते हैं

अथवा "उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्या-मविद्यां च स वाच्यो भगवानिति" जो संसार की उत्पत्ति और प्रलय को एवं भूतों के गमनागमन को तथा विद्या और अविद्या को जानता है, उसे भगवान् कहते हैं । अतः हे भगवन् ! यह संसार एक अपार समुद्र जैसा है, जिसमें जन्म-मरण रूप जल है, सुख-दुःख ग्राह हैं ऐसे भवसागर में मैं अनादि काल से पड़ा हूँ, और अत्यंत दुखी हूँ । अब आप की शरण में आ गया हूँ । अतः मुझ शरणागत शिष्य को कृपा कर उपदेश करें और इस भव-सागर से पार कर देवें ।। ४ ।।

आचार्य का उपदेश

विनिवर्त्य[४] रतिं[३] विषये[१] विषमां[२],
परिमुच्य[६] शरीर-निबद्धमतिम्[५] ।
परमात्मपदे[७] भव[९] नित्यरतो[८],
जहि[१३] मोहमयं[११] भ्रममात्ममतेः[१२][१०] ॥५॥

राग-द्वेष आदि के कारण उत्तमाधम योनियाँ प्राप्त होती हैं। अतः शब्द-स्पर्शादि विषयों का राग छोड़ो, शरीरादि में अहं बुद्धि का परित्याग करो और परमात्मस्वरूप में नित्यनिरत हो जाओ। फिर आत्मज्ञान के द्वारा मोहमय अध्यास को मार डालो।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इन विषयों में जो अनुरक्ति है यही उत्तमाधम जन्म प्राप्ति का कारण है। इसलिये इस विषय अनुरक्ति का सर्वथा परित्याग साधक का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। इसके लिये देहादि में अहंभाव का परित्याग आवश्यक होता है। देहात्म अध्यास से आगे के सब अनर्थ खड़े होते हैं। अतः इन दोनों को छोड़ना होगा। उसके बाद ही जीव ब्रह्म की एकता रूप परमात्म-पद में नित्य अनुराग हो सकता है। तत्पश्चात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, जो ज्ञान के अन्तरंग साधन हैं, इन साधनों में अनुरक्त हो महावाक्य द्वारा जीव ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार हो सकता

है और इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से अज्ञान तथा उससे उत्पन्न अहं मम अध्यास को मिटा सकता है। अतः क्रमशः उक्त साधनों में लगने के लिये आचार्य ने साधक को आदेश दिया है ।।५।।

विसृजान्नमयादिषु पञ्चसुता-
महमस्मि ममेति मतिं सततम् ।
दृशिरूपमनन्तमृतं विगुणं,
हृदयस्थमवेहि सदाहमिति ।।६।।

अन्नमयादि पंचकोषों में 'यह मैं हूँ और ये मेरे हैं' ऐसी बुद्धि का सर्वथा परित्याग करो। इसके बाद हृदयरूपी गुफा में स्थित चेतन स्वरूप, अनंत, सत्य और निर्गुण तत्त्व को 'यही मैं हूँ' ऐसा सदैव जानो।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय, ये पाँच कोष माने गये हैं। ये पाँचों कोष तैत्तरीय उपनिषद् में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार आत्मा नहीं हैं। किन्तु ये आत्मा के आवरण करने वाले हैं, अर्थात् इनमें से किसी भी कोष में 'मैं' और 'मेरेपन' का अध्यास हो जाने पर पंचकोषातीत आत्मा ढक जाता है। अतः आप जिज्ञासु को इन कोषों में मैं और मेरेपन का अध्यास सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसके विपरीत हृदयरूपी गुफा में स्थित जो चिन्मात्र तत्त्व देशकाल एवं वस्तुपरिच्छेद से शून्य

है, जिसका किसी काल में बाध नहीं होता और जिसमें गुणों का कोई संबंध नहीं है, ऐसे परमात्मतत्त्व को ही 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि महावाक्य के द्वारा सदा आत्मभाव से जानो ॥६॥

आत्मा में औपाधिक भेद है

जलभेदकृता बहुतेव रवे-
घटिकादिकृता नभसोऽपि यथा ।
मतिभेदकृता तु तथा बहुता,
तव बुद्धिदृशोऽविकृतस्य सदा ॥७॥

जैसे एक ही सूर्य जलपात्र के भेद से अनेक रूप में प्रतीत होता है और जैसे एक ही आकाश में घट-पटादि अनेक उपाधि के कारण अनेक-सा प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही सदा निर्विकार बुद्धि के साक्षी तुझ एक तत्त्व में बुद्धिरूप उपाधि के कारण से ही अनेकता प्रतीत होती है ।

जैसे आकाशस्थ सूर्य एक है किन्तु भिन्न-भिन्न जलपात्र में प्रतिबिंब भिन्न-भिन्न दीखता है और जैसे आकाश अखण्ड एक है किंतु घट-मठादि उपाधि के कारण से घटाकाश-मठाकाश आदि अनेकता प्रतीत होती है। ये सब भेद सूर्य में तथा आकाश में औपाधिक हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। इसीलिये "एकमेवाद्वितीयम्"

छा० १ "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" श्वे० ६।११ "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्" [ब्रह्मबिंदु० १२] "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" गीता० १३।२ इत्यादि श्रुति-स्मृति में परमार्थ दृष्टि से आत्मा में एकत्व और उपाधि के कारण से भेद कहा गया है ।।७।।

आत्मा की निर्विकारता में दृष्टांत

दिनकृत्प्रभया सदृशेन सदा,
　　जनचित्तरतं सकलं स्वचिता ।
विदितं भवताऽविकृतेन सदा,
　　यत एवमतोऽसित एव सदा ।।८।।

जैसे सूर्य की प्रभा से संपूर्ण संसार प्रकाशित होता है। वैसे ही स्वप्रकाश चेतन से सदा सर्वदा जीव के चित्त में संलग्न संपूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। अतः सूर्य के समान आप सदा निर्विकार हो, और आप से ही संपूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, बस इसी कारण से आप सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप हो।

अच्छे-बुरे विविध विषयों को प्रकाशता हुआ सूर्य जैसे निर्विकार ही रहता है, ठीक उसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा संपूर्ण जगत् और प्राणियों के चित्तवृत्तियों का प्रकाशक होता हुआ भी

सदा निर्विकार रहता है। अतः इसी कारण से आप चित्त के सुख-दुःख आदि संपूर्ण धर्मों से सदा मुक्त हैं क्योंकि द्रष्टा दृश्य के धर्म से कभी भी लिप्त नहीं होता ॥८॥

उपरागमपेक्ष्य मतिर्विषयै-
विषयावधृतिं कुरुते तु यतः।
तत एव मतेर्विदिता—विदिता,
विषयास्तु ततः परिणामवती ॥९॥

क्योंकि विषयों के साथ संबंध करके ही बुद्धि विषयों का प्रकाश करती है। इसलिये जिन विषयों के आकार की बुद्धि होती है, वे विषय ज्ञात होते हैं और विषयाकार बुद्धि के न होने पर विषय अज्ञात रहते हैं। अतः बुद्धि विकार वाली है। आत्मा तो निर्विकार है।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के आकार की जब बुद्धिवृत्ति होती है तब ही विषय का प्रकाश होता है। विषयाकार हुये बिना वह विषय प्रकाशित नहीं माना जाता। विषय का आकार सदा बुद्धि हुआ करती है। आत्मा विषयाकार कभी नहीं होता। अतः बुद्धि का ही परिणाम होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा सदा एकरस और निर्विकार ही है ॥९॥

बुद्धि का साक्षी आत्मा सदा निर्विकार है

मतिवृत्तय आत्मचिताविदिताः,
सततं हि यतोऽविकृतस्तु ततः ।
यदि चात्मचितिः परिणामवती,
मतयोर्विदिताविदिताः स्युरिमा ॥१०॥

स्वयं प्रकाश चेतन आत्मा से बुद्धिवृत्तियाँ सदा प्रकाशित होती हैं । जब कि ऐसी बात है, इसलिये आत्मा सदा निर्विकार है । यदि चेतन आत्मा को बुद्धि के समान ही परिणाम वाला माना जाय, तो अन्य विषयों के समान ये बुद्धिवृत्तियाँ भी कभी विदित और कभी अविदित होने लग जायेंगी ।

चेतन आत्मा साक्षी मात्र है । इसी साक्षी से बुद्धिवृत्तियाँ जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में सदा प्रकाशित हुआ करती हैं । बुद्धि-वृत्ति कभी अज्ञात नहीं मानी गई है । इससे यह मानना पड़ता है कि इसका प्रकाशक आत्मा सदा निर्विकार है । जैसे बाह्यवस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात मानी जाती है । बुद्धिवृत्ति ऐसी नहीं मानी जाती । यदि आत्म चैतन्य विकारी होता तो बाह्यविषयों के समान ही बुद्धिवृत्ति भी कभी ज्ञात और कभी अज्ञात मानी जाती । पर ऐसा होता नहीं । अतः बुद्धि विकारी है और आत्मा सदा निर्विकार है ॥१०॥

चरितं तु धियः सकलं सततं,
विदितं भवता परिशुद्धचिता ।
मतिभेदगुणो नहि तेऽस्ति ततो,
यत एवमतोऽसदृशस्तु धिया ॥११॥

सर्वथा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आप के द्वारा ही निरंतर बुद्धिवृत्तियों के संपूर्ण व्यापार जाने जाते हैं । अतः बुद्धि वृत्ति और उनके गुण आप में सर्वथा नहीं है । इसीलिये आप बुद्धि वृत्ति से सर्वथा विलक्षण हैं ।

आप परिशुद्ध चेतन स्वरूप हैं और आप ही संपूर्ण बुद्धिवृत्ति के साक्षी हैं । द्रष्टा दृश्य से सर्वथा भिन्न होता है । अतः बुद्धि और उसके संपूर्ण सुख-दुःखादि धर्मों के साथ आप शुद्ध चैतन्य आत्मा का सम्बन्ध नहीं है । तात्पर्य यह कि बुद्धि दृश्य, परिणामी और अनेक हैं किन्तु आत्मा द्रष्टा, निर्विकार तथा एकरूप है ।।११।।

बुद्धि में भी दृश्यत्व है

विदितत्वमविप्रतिपन्नतया,
मतिषु प्रगतं विषयेषु यथा ।

७ ८ १३
यत एवमतः परसंविदिता,

९ १० ११ १२
विदितत्वत एव यथा विषयाः ॥१२॥

जैसे घटादि विषयों में दृश्यत्व है, निःसन्देह इसी प्रकार बुद्धि-वृत्तियों में भी दृश्यत्व है। जब कि ऐसी बात है, इसीलिये विषय के समान ही बुद्धिवृत्तियाँ भी परप्रकाश्य हैं।

घट-पटादि विषयों में जैसे परप्रकाश्य रूप जड़ता है और प्रकाशक उनसे भिन्न है। ठीक ऐसे ही बुद्धिवृत्तियों में भी परप्रकाश्य रूप जडता है। इसका प्रकाशक साक्षी आत्मा इससे भिन्न ही है। उसी के द्वारा बुद्धिवृत्तियाँ तथा बुद्धिवृत्ति से संबद्ध अन्य विषय प्रकाशित होते रहते हैं। वह परतत्त्व साक्षी आत्मा सिद्ध है। यदि वह बुद्धि से भिन्न नहीं होता, तो बुद्धिवृत्ति और विषय के जड़ होने से इनका प्रकाश होना सर्वथा असम्भव था ॥१२॥

४ ३ २ १
परसंविदिताः सततं हि यतो,

१० ११ ९ ७ ८ ६ ५
न विदुः स्वममी विषयास्तु ततः।

१३ १२ १४
मतयोपि तथा पर-संविदिता,

२० २१ १९ १८ १७ १६ १५
न विदुः स्वममूर्विषयास्तुयथा ॥१३॥

जैसे घटादि विषय सदा अपने से भिन्न द्वारा प्रकाशित होते हैं। इसलिये वे अपने को जानते नहीं, वैसे ही बुद्धिवृत्तियाँ भी अपने से भिन्न चेतन आत्मा द्वारा प्रकाशित होती हैं। अतः वे भी अपने को जनती नहीं हैं। इसीलिये वे परसंवेद्य ही माने गये हैं स्वसंवेद्य नहीं।

जैसे ये घट-पटादि विषय सदा अपने से भिन्न चेतन के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि वे स्वयं जड़ हैं। इसलिये वे अपने या दूसरे को जानने में समर्थ नहीं हैं, वैसे ही घटाकारादि बुद्धिवृत्तियाँ भी अपने से भिन्न चेतन आत्मा द्वारा प्रकाशित होती रहती हैं। स्वयं जड़ होने के कारण वे अपने को प्रकाशित नहीं कर सकतीं। अतः इन बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशक चेतन आत्मा इनसे भिन्न है। उसी से बुद्धिवृत्तियों का सदा प्रकाश होता रहता है ॥ १३॥

विषयाकृतिसंस्थितिरेकविधा,
मनसस्तु सदा व्यवहारविधौ।
अहमित्यपि तद्विषयात्वऽपरा,
मतिवृत्तिरवज्वलितात्मचिता ॥१४॥

सदाव्यवहार अवस्था में अन्तःकरण की एक तो विषयाकार स्थिति होती है और दूसरी अहमाकार स्थिति होती है। ये दोनों बुद्धिवृत्तियाँ आत्म चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होती हैं।

व्यवहार के समय सदा मन की दो प्रकार की वृत्ति होती है। एक विषयाकार और दूसरी चेतन आत्मा के साथ तादात्म्य होने पर अहमाकार वृत्ति होती है। उक्त दोनों वृत्तियों को आत्म चैतन्य ही प्रकाशित करता है क्योंकि वृत्तियाँ जड़ हैं। वे स्वयं को प्रकाश नहीं करतीं। अतः स्वयंप्रकाश आत्मा ही दोनों का प्रकाशक है। प्रकाश्य वस्तु के गुणों का संबन्ध प्रकाशक आत्मा में होता नहीं। इसलिये आण्मा निर्गुण है ।।१४।।

आत्मा में कर्तृत्वादि अध्यस्त हैं

[६] पुरुषस्य [२] तु [७] धर्म[८]वदुद्भवति,
[३] स्वरसेन [४] मतेः [५] स्वगुणोपि [१] यतः।
[९] अत [१५] आत्मगुणं [१६] प्रतियन्ति [११] जना,
[१४] मतिवृत्ति[१३]मिमा[१२]महम्[१०]इत्यबुधाः ॥१५॥

क्योंकि स्वभाव से ही "मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है।" ऐसा धर्म बुद्धि का अपना गुण है। बुद्धि के इन गुणों का पुरुष में अध्यास होने पर उसमें कर्तृत्वादि प्रतीत होने लग जाते हैं। इसी अध्यास के कारण अज्ञानी लोग इस अहं और मम बुद्धि को आत्मा के धर्म मानते हैं।

अहं मम वृत्ति स्वभाव से बुद्धि का अपना धर्म है। फिर भी अध्यास हो जाने पर निर्धर्मक आत्मा भी कर्तृत्वादि धर्मवाला प्रतीत होता है। इस रहस्य को न जानने के कारण बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म को आत्मा का गुण अज्ञानी लोग मानते हैं और आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, ऐसी धारणा उनकी बन जाती है। परन्तु रहस्य को जानने वाले तत्त्ववेता तो कर्तृत्वादि बुद्धि के धर्म को आत्मा में संस्पर्श तक नहीं होने देते; वे सदा आत्मा को अकर्ता एवं अभोक्ता ही मानते हैं ॥१५॥

१ ३ ४ ५ २
यदि सा न भवेज्जनमोहकरी,

८ ७ ९ ६ १०
व्यवहारमिमं न जनोऽनुभवेत्।

२० १८ १७ १९
विफलश्च तदा विषयानुभवो,

१३ १४ १२ १५ ११ १६
ज्ञगुणो नहि संति यदा विदिता ॥१६॥

सभी प्राणियों को मोहित करने वाली अहमाकारवृत्ति यदि न हो, तो इस समस्त व्यवहार का अनुभव लोक नहीं कर सकेंगे क्योंकि यह देखा गया है कि जिस अवस्था में अहमाकारवृत्ति चेतन में नहीं हैं, ऐसी जान ली गयी है। उस अवस्था में विषयों का अनुभव भी नहीं हो पाता है। अतः विषयानुभव सदा आध्यासिक व्यवहार काल में ही हुआ करता है।

प्राणीमात्र को मोहित करने वाली यह अहमाकारवृत्ति है। यदि उसे न माना जाय तो "मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि समस्त व्यवहार अनुभव में नहीं आ सकेंगे क्योंकि जिस समय अहमाकार

वृत्ति नहीं होती है, उस समय समाधिकाल में या तो कर्तृत्वादि व्यवहार ही नहीं होता या व्यवहार होता हुआ भी बाधित-सा रहता है। इसीलिये गीता में कहा गया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ (१८।१७)

जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, और जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोकों का मारने वाला होकर भी न मारता है और न उस दोष से लिप्त ही होता है।

द्रष्टाकार वृत्ति न मानने में दोष

उपलभ्यघटादिनिभैव भवेत्,
मनसो यदि संस्थितिरेकविधा।
पुरुषस्य चितिश्च न विक्रियते,
मतिवृत्तिमपेक्ष्य घटादिनिभाम् ॥१७॥

यदि दृश्य घटादि के आकार की ही एकमात्र मन की वृत्ति मानें और चेतन आत्मा के साथ अध्यास द्वारा अहमाकार मन की वृत्ति न मानें तो, बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा से केवल घटादि के आकार की ही वृत्ति बनेगी, द्रष्टा के आकार की नहीं।

यदि अन्तःकरण का परिणाम विषयाकार मानें और अध्यास द्वारा द्रष्टाकार न मानें तो ऐसी स्थिति में ज्ञाता के न रहने पर विषय का अनुभव नहीं हो सकेगा ॥१७॥

अवगंत्रवगम्य–चिदात्मधियो–

रहमित्यभिमानविहीनतया ।

स्थितयोरभिमान–पुरःसरकं,

व्यवहारपथं न जनोऽवतरेत् ।।१८।।

चेतन आत्मा ज्ञाता है और बुद्धिवृत्ति ज्ञेय है । इन दोनों में ‘अहं’ ऐसा अभिमान न होने से दोनों की स्थिति व्यवहार योग्य नहीं रह जायेगी । फिर तो अभिमान पूर्वक होने वाले व्यवहार मार्ग को जन साधारण प्राप्त न कर सकेंगे अर्थात् सांसारिक व्यवहार लुप्त हो जायेगा ।

चेतन आत्मा सदा ज्ञाता है और बुद्धि सदा ज्ञेय है । यदि ये दोनों इसी भाव में रहें अर्थात् अन्योऽन्याध्यास न होने के कारण अहमभिमान यदि न माना जाय तो जन साधारण का सांसारिक व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि यह व्यवहार सदा आत्मानात्मा के अन्योन्याध्यास से ही हुआ करता है । ऐसा ब्रह्मसूत्र अध्यास भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है ।।१८।।

अहंकार पूर्वक व्यवहार में अनुभव प्रमाण

अहमीक्ष इति प्रथमं हि धिया,

सुविचिन्त्य ततो विषयाभिमुखम् ।

[८]नयनं [९]प्रहिणोति [१०]तथान्यदपि,

[११]श्रवणादि[१२]वियत्प्रमुखस्य [१३]गुणे ॥१९॥

क्योंकि 'पहले मैं देखूँ' ऐसी बुद्धि से भलीभाँति चिंतन कर पुनः नेत्र को अपने विषय में पुरुष प्रेरित करता है। ऐसे ही अन्य इन्द्रियों के विषय के कारण श्रोत्रादिक संबंध में भी समझना चाहिये।

सर्वप्रथम मैं देखूँ ऐसा अहंकार पूर्वक बुद्धि से भलीभाँति सोच समझकर रूप या रूपवद् द्रव्य की ओर पुरुष अपने नेत्र को प्रेरित करता है। वैसे ही 'मैं सुनूँ' 'मैं सूघूँ' इत्यादि संकल्प के बाद ही अन्य श्रोत्रादि इन्द्रियों को भी आकाशादि के गुण शब्दादि की ओर पुरुष भेजता है। अतः व्यवहार में सर्वत्र अहंकार मानना ही पड़ेगा ॥१९॥

[३]अपहाय[६]न[१]कश्चिद[२]हंकरणं,

[४]व्यवहारमु[७]पैति [५]कदाचिदपि।

[१५]उपपन्नतरा[१०]हि [१३]मत[९]स्तु [८]ततो,

[११]व्यवहारपथं [१२]प्रति [१४]कारणता ॥२०॥

कोई भी पुरुष अहंकार का परित्याग कर कभी भी किसी प्रकार का व्यवहार कर नहीं सकता। अतः व्यावहारिक क्षेत्र में बुद्धि की अहमाकार वृत्ति को कारण मानना युक्ति संगत ही है।

यदि कोई पुरुष अहंकार को नहीं माने, तो साधारण खान-पान शारीरिक यात्रादि व्यवहार भी सिद्ध न हो सकेंगे क्योंकि शरीर अहंकार पर ही खड़ा है। अतः विशेष लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार की तो बात ही दूर रही, सामान्य व्यवहार के लिए भी अहंकार को मानना नितांत आवश्यक है ॥२०॥

अहंकार के विषय में विकल्प

चितशक्तिगुणः किमहंकरणं,
किमु बुद्धिगुणोऽथ भवेदुभयोः ।
इति चिन्त्यमिदं मनसानलसै-
रुपपत्तिभिरात्ममहितं यतिभिः ॥२१॥

क्या अहंकार चेतन आत्मा का गुण है? या बुद्धि का गुण है? अथवा आत्मा बुद्धि दोनों का गुण है? इस प्रकार आलस्य रहित यत्नशील साधकों द्वारा आत्मकल्याण के लिये मन तथा तर्कों से बार-बार विचार करना चाहिये।

मोक्षाभिलाषी संन्यासियों का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि अहंकार के विषय में पूर्ण निर्णय ले लेवें। यदि यह अहंकार बुद्धि का गुण होता हुआ आत्मा में केवल अध्यास से प्रतीत हो रहा है, तो श्रुति, युक्ति और अनुभव के आधार पर इसको आत्मा से पृथक् समझ लेने पर विशुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाता है। अतः इसका गंभीरतम चिंतन अनिवार्य हो जाता है ॥२१॥

अहंकार आत्मा का गुण नहीं है

६ २ ७
उपलभ्यमहंकरणं न भवेत्,

३ १ ५ ४
पुरुषस्य गुणो यदि तर्हि भवेत् ।

९ १०
गुणिरूपमथावयवं गुणिनो,

१२ ११ १३ ८
न विहाय गुणः पृथगस्ति यतः ॥२२॥

यदि अहंकार आत्मा का गुण होता तो वह दृश्य नहीं होता, क्योंकि गुणवान् के रूप और अवयव सदा गुणी के आश्रित ही रहते हैं अपने आश्रय गुणी को छोड़कर स्वतन्त्र गुण की पृथक् सत्ता नहीं देखी जाती ।

जैसे वस्त्र का नीलादि रूप और उसका अवयव तन्तु आदि वस्त्र से भिन्न नहीं है । वैसे ही अहंकार यदि आत्मा का गुण होता तो आत्मा और अहंकार में प्रकाश्य प्रकाशक भाव नहीं बन सकता । अतः आत्मा का गुण अहंकार नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट दृश्य रूप से अनुभूत होता है । इसलिये आत्मा शुद्ध साक्षी एवं निर्गुण है ॥२२॥

३ २ १ ४
न गुणो गुणिनिस्थितवान् गुणिना,

८ ६ ५ ७
विषयीक्रियते न च तस्य गुणैः ।

[१३]नहि देशकृता [१५]न [१४]च [१६]वस्तुकृता,

[१३]गुणिनो[१७]स्ति गुणस्य[१२]भिदा [१०]तु [९]यतः ॥२३॥

गुणी में स्थित गुण उसी गुणी द्वारा अथवा उसके अन्य गुणों द्वारा प्रकाशित नहीं होता है। साथ ही आत्मा को गुणवान् मानोगे, तो गुणी आत्मा और गुण अहंकार का देशकृत एवं वस्तुकृत भेद भी सिद्ध नहीं होगा।

गुणी में स्थित गुण उसी गुणी द्वारा जाना जाता है ? अथवा उसके अन्य गुणों द्वारा ? दोनों ही बात ठीक नहीं हैं क्योंकि गुणी और गुण का भेद देश के कारण अथवा वस्तु के कारण सिद्ध नहीं होता। परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर आत्मा में कल्पित देश आदि पदार्थ की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी है। तो भला ये कल्पित देश आदि गुणी और गुण में पारमार्थिक भेद कैसे पैदा कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अहंकार आत्मा में कल्पित है। इस कल्पित अहंकार को लेकर भेद सिद्ध नहीं होता। इसलिये यह अहंकार आत्मा का धर्म नहीं है किंतु बुद्धि का धर्म है। आत्मा में तो केवल अज्ञानजन्य अध्यास से प्रतीत होता है ॥२३॥

गुण-गुणी में परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक भाव मानने पर बाधक दृष्टांत

[६]न [४]परस्परम[२]ग्निगुणो[१]ऽग्निगतो,

[५]विषयत्वमु[७]पैति [३]कदाचिदपि ।

१४ ८ १३ ११ १०
न हि वन्हिरपि स्वगुणं स्वगतं,

१५ १२ ९
विषयी कुरुते स्वगुणेन भुवि ॥२४॥

व्यावहरिक क्षेत्र में अग्नि में रहने वाले अग्नि के गुण कभी भी परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक भाव को प्राप्त नहीं करते। अपने में रहने वाले गुण को अग्नि प्रकाशित करती है और न अपने गुणों से स्वयं प्रकाशित होता है।

अग्नि में उष्णता और प्रकाशादि गुण सिद्ध हैं। अग्नि की उष्णता न प्रकाश को विषय करती है और न उसका प्रकाश गुण उष्णता को विषय करता है। विशेष क्या कहें स्वयं भी अग्नि अपने में रहने वाले अपने गुण को प्रकाशित नहीं करता और न अपने गुणों से वह स्वयं प्रकाशित होता है। इसीलिये यह मानना ठीक ही है कि, गुण-गुणी में परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक भाव कहीं नहीं है ॥२४॥

नित्य आत्मा के अनित्य गुण नहीं हो सकते

१ ५ ४
कणभुग्यमचीक्लृपदात्मगुणं,

३ २ ६
गुणपूगमनित्यमनात्मगुणम्।

८ ७ ९
अनयैव दिशा स निराक्रियतां,

१३ १० १२ ११
न हि नित्यमनित्यगुणेन गुणि ॥२५॥

कणाद ऋषि ने जिस अनित्यगुण समूह को आत्मा के गुण रूप से माना है, वे असल में आत्मा के गुण नहीं हैं। इसी न्याय से काणाद मत का खंडन कर लेना चाहिये क्योंकि अनित्य गुणों के कारण नित्य आत्मा गुणी कभी भी नहीं हो सकता।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष आदि गुण समूह को वैशेषिकों ने अनित्य माना है और आत्मा का गुण मान लिया है। पर वास्तव में अनात्मा के धर्म है, आत्मा के नहीं क्योंकि आत्मा नित्य है और ये सब गुण अनित्य हैं। नित्य आत्मा के गुण अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि लोक में कहीं भी ऐसा देखा नहीं गया है। इसी युक्ति से वैशेषिकों के अन्य मान्यताओं का भी खंडन कर लेना चाहिए ॥२५॥

उक्त विषय में आकाश दृष्टांत ठीक नहीं

वियतः[४] प्रभवं प्रवदन्ति यतः[१],
श्रुततो[३] बहुशः[२] खमनित्यमतः[६][५]।
उपमानमनित्यगुणं[११][१०] वियतो[९],
नहि[१३] नित्यमिहास्ति[८][१२] कणादकृते[१४][७] ॥२६॥

क्योंकि श्रुतियों ने अनेक बार आकाश की उत्पत्ति बतला दी है। अतः आकाश अनित्य है। इसलिए काणाद मत में नित्य आकाश का गुण शब्द अनित्य है, ऐसा उपमान आत्मा के गुण बुद्धि आदि को मानने में यहाँ बनता नहीं।

वैशेषिकों ने आकाश को नित्य माना है और उसका गुण शब्द अनित्य है, इसी उपमान से नित्य आत्मा के बुद्धि आदि अनित्य गुण को वे सिद्ध करना चाहते हैं, पर ऐसा ठीक नहीं है क्योंकि आकाश की उत्पत्ति

तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। तै० २।१

सः प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धां खं वायुः। प्रश्न० ६।४

इत्यादि अनेक श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति बतलायी गयी है। घटादि के समान उत्पत्तिशील आकाश भी अनित्य ही है। अतः नित्य आत्मा के अनित्य गुण मानने में यह दृष्टांत ठीक नहीं घटता ॥२६॥

सावयव और निरवयव का संयोग असंभव

मनसा[१] पुरुषः पुरुषेण मनो,
नभसा[२] मुसलं मुसलेन नभः।
न[५] हि योगवियोगमुपैति[४] कुतो[३]ऽ,
वयवित्वनिराकरणादमुतः ॥२७॥

मन के साथ आत्मा का और आत्मा के साथ मन का वैसे ही आकाश के साथ मूसल का और मूसल के साथ आकाश का संयोग वियोग नहीं होता। क्योंकि आत्मा और आकाश में अवयवित्व का खंडन कर दिया गया है।

आत्मा और आकाश निरवयव है एवं मन और मूसल सावयव हैं और सावयव और निरवयव का संयोग या वियोग नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में नित्य आत्मा और आकाश के गुण संयोग या विभाग अनित्य है। ऐसा उदाहरण देना वैशेषिकों का असंगत है ॥२७॥

[२]इह [४]रज्जुघटादि [१]हि [३]सावयवं,
[७]समुपैति [६]युजा[५]मितरेतरतः ।
[८]इति [९]दृष्टमतो[१०]ऽन्यददृष्टमपि,
स्वयमू[११]ह्यमिदं न परित्यजता ॥२८॥

क्योंकि इस संसार में सावयव रस्सी और घटादि का परस्पर संयोग होता देखा गया है। अतः इस तर्क को न छोड़ते हुए अन्य अदृष्ट स्थलों में भी स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये कि संयोग सावयव पदार्थों का ही हो सकता है।

दो सावयव पदार्थ परस्पर संयोग या विभाग को प्राप्त होते हैं, ऐसा लोक में देखा गया है। अतः अदृष्ट स्थलों में भी इस उदाहरण के अनुसार ही कल्पना करनी चाहिये विपरीत कल्पना ठीक नहीं ॥२८॥

२ १ ३
न हि सावयवं विगतावयवै-

६ ४ ५ ७
विगतावयवं च न सावयवैः।

६ ८ १०
उपयाति युजामिति दृष्टमिदं,

११ १४ १३ १२
यतएवमतः स्थितमुक्तमदः ॥२६॥

क्योंकि निरवयव पदार्थों के साथ सावयव पदार्थ और सावयव पदार्थ के साथ निरवयव पदार्थ संयोग को प्राप्त नहीं करते। ऐसा देखा गया है। इसलिये मेरा पूर्वोक्त कथन सुस्थिर हो जाता है।

सावयव-निरवयव पदार्थ के परस्पर संयोगाभाव का वर्णन हम पहले कर आये हैं, वह हमारा कथन प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी सुस्थिर हो रहा है। क्योंकि जब आकाश का ही प्रत्यक्ष नहीं होता तो भला आकाश और मूसल के संयोग का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा। अतः सावयव और निरवयव के संयोगाभाव का सिद्धात सुस्थिर ही है ॥२६॥

४ १ २
न हि कल्पितभागसमागमनं,

१ ५ ३
विगतावयवस्य घटेत कुतः।

६ ७ ६
वितथत्वमतिः सुदृढा तु यतः,

८ ११ १०
परिकल्पितवस्तुषु नित्यमतः ॥३०॥

निरवयव पदार्थ का कल्पित अवयव के साथ संयोग भी सिद्ध नहीं होता। क्यों ? क्योंकि कल्पित वस्तुओं में सदा मिथ्यात्व बुद्धि सुदृढ हुआ करती है। अतः सत्य एवं मिथ्यापदार्थ का संयोग कहना भी असंभव ही है।

निरवयव पदार्थ में कल्पित अवयव मानने पर भी उक्त दोष का वारण नहीं होता है। क्योंकि कल्पित मरुमरीचिका के जल के साथ मरुभूमि का संबंध वास्तविक नहीं होता। जब संबंधी ही कल्पित है तो उसका संबंध सत्य कैसे हो सकता है। अतः कल्पित पदार्थ के साथ सत्य वस्तु का संबंध और व्यवहार भी कल्पित ही मानना पड़ेगा ॥३०॥

आत्मा में निर्गुणत्व श्रुति सिद्ध है

१
इह वेदशिरस्सु तदर्थविदः,

७ ६
प्रवदन्ति समस्तजगत्प्रकृतिम् ।

५ २
परमात्मपदं दृशिमात्रवपु–

३ ४ ८
ध्रुवमेकमतोन्यदनित्यमिति ॥३१॥

यहाँ पर वेदांत के रहस्यवेत्ता पुरुष उपनिषदों में संपूर्ण जगत् का विवर्त उपादान कारण परमात्मा को माना है। जो परमात्मा चिन्मात्र स्वरूप नित्य तथा एक है और उससे भिन्न सभी अनित्य यानी मिथ्या हैं, ऐसा वेदांत का सिद्धांत है।

"एकमेवाद्वितीयम्" छा० ६।२।१ सजातीय तथा स्वगतभेद शून्य एक अद्वितीय सत् ही था। "ब्रह्म एवेदम् सर्वम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" यह सब ब्रह्म ही है, यह सब आत्मा ही हैं इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में समस्त जगत् को ब्रह्म स्वरूप बतलाते हुये यही सिद्ध किया गया है कि संपूर्ण जगत् कल्पित है, और उसका अधिष्ठान चिन्मय-स्वरूप ब्रह्म ही है। फिर भला कल्पित वस्तु का अपने अधिष्ठान के साथ संबंध भी तो कल्पित ही होगा। यही वेदांत का सिद्धांत है ॥३१॥

आत्मा और ज्ञान में गुण-गुणी भाव नहीं है

१ ५ ४
अतएव न किंचिदुदाहरणं,

३ ६ २
ध्रुवमस्ति परस्य विनाशिगुणम्।

७ १३ १२ ११
ययएवमतः स्थितमुक्तमदो,

१० ९ ८
न हि नित्यमनित्यगुणेन गुणि ॥३२॥

इसीलिये वैशेषिकों के पास में कोई दृढ उदाहरण नहीं है, जिससे नित्य परमात्मतत्त्व का विनाशी गुण सिद्ध हो सके। अतएव पूर्वोक्त सिद्धांत हमारा वेदांतानुकूल सुस्थिर है कि अनित्य गुण से नित्यवस्तु गुण वाली नहीं हो सकती।

"अनुमानैकचक्षु" वैशेषिकों के यहाँ दृष्ट उदाहरण से अदृष्ट को सिद्ध किया जाता है। जब लोक में नित्य तत्त्व का अनित्य गुण

सिद्ध करने के लिये कोई उदाहरण मिलता ही नहीं, फिर भला अनित्य गुणों के कारण नित्य आत्मा गुण वाला कैसे हो सकता ॥३२॥

अहंकार में दृश्यत्व

उपलभ्यम्[४] अहंकरणं[३] भवितुं[५],
क्षमते[७] दृशिरूपगुणो[२] न[८] यतः[१] ।
विषयाकृतिरंजितधीगुणवत्[६]–
विषयत्वम्[११] अहंकरणस्य[१०] ततः[८] ॥३३॥

चेतन आत्मा का गुण अहंकार इसलिये भी नहीं है क्योंकि वह दृश्य है। अतः विषय के आकार से आकारित बुद्धि गुण के समान ही अहंकार में भी दृश्यत्व है।

जैसे अन्य विषयों के आकार, जब बुद्धिवृत्ति बनती है, तब चेतन आत्मा उस विषय को प्रकाशता है। अतः विषय और बुद्धि दोनों दृश्य कहे जाते हैं, वैसे ही अहंकार का भी सुख-दुःखादि विषयों के साथ जब तादाम्य होता है, तब चेतन आत्मा उसे प्रकाशता है। अतः सुख-दुःखादि के समान ही अहंकार भी दृश्य ही है, आत्मा का गुण नहीं है। इसलिये उन्हें वेदांत में साक्षीभास्य माना गया है ॥३३॥

तत् त्वं पदार्थ की एकता

[१]विषयप्रकृतिं प्रतिपन्नवतीं,
मतिवृत्ति[३]महं[२]करणं च मतेः ।
[४]उभय [६]परिपश्यति [५]योऽविकृतः,
[८]परमात्मसदुक्ति[७]रसौ पुरुषः ॥३४॥

विषयाकार को प्राप्त हुई बुद्धिवृत्ति और दृश्य के आकार को प्राप्त हुआ अहंकार इन दोनों को जो निर्विकार साक्षी तत्त्व प्रकाशता है, वह पुरुष परमात्म स्वरूप ही कहा गया है।

इदमाकार और अहमाकार ये दोनों अन्तःकरण के परिणाम हैं। इनका प्रकाशक साक्षी आत्मा निर्विकार है। जैसे सूर्य संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करते हुए निर्विकार है, वैसे ही आत्मा अन्तः-करण और उसके धर्मों को प्रकाशित करता हुआ निर्विकार ही रहता है। वह साक्षी पुरुष सर्वाधिष्ठान सर्व स्वरूप है। यही बात "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" बृ० ३।७।२३ इस आत्मा से भिन्न द्रष्टा नहीं है। "तत्त्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियाँ भी कह रही हैं ॥३४॥

आत्मा परमात्मा की एकता में विरोध का परिहार

ननु[1] देहभृदेष[4,3] कथं[6] भवताऽ[2],

भिहितः[7] परमात्मसदुक्तिरिति[5] ।

न[11] विरुद्धमवादिषमेतदहं[10,12,9,8],

श्रुतिरप्यमुमर्थमुवाच[14] यतः[11] ॥३५॥

शंका—आपने इस देहधारी जीव को परमात्म स्वरूप कैसे कह दिया ? क्या इस में कोई प्रमाण भी है ?

समाधान—मैंने इस एकता में कुछ विरुद्ध नहीं कहा क्योंकि श्रुति वाक्य भी इस अर्थ को बतला रही है ।

जीव ब्रह्म की एकता प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध प्रतीत हो रही है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुति वाक्य स्पष्ट रूप से जीव ब्रह्म की एकता का बोधन करते हैं । सर्वज्ञत्व–अल्पज्ञत्व आदि विरोध तो उपाधियों के कारण से प्रतीत होता है । जीव ब्रह्म की उपाधि का परित्याग कर देने पर शुद्ध चेतन तत्त्व दोनों में समान है और उसी को महावाक्य लक्षणा द्वारा बतला रहा है । अतः जीव ब्रह्म की एकता में कोई विरोध नहीं ॥३५॥

अमतं[1] न[2] मतेरमतस्तदिदं[3,4,5],

यदमुत्रत-देव[6] तु कश्चिदिति[7] ।

श्रुतिषु प्रतिपादितमस्य दृशेः,

परमात्मपदत्वममूषु भृशम् ॥३६॥

"अमतं" "नमतेः" "अमतः" "तद्" "इदम्" "यदमुत्र तदेव" एवं "कश्चित्" इत्यादि अनेक श्रुतियों में इस प्रत्यगात्मा चेतन को बारम्बार परमात्म स्वरूप ही बतलाया गया है। "अमतम् विज्ञानं विज्ञातृ" बृ० ३।७।११

बुद्धिवृत्ति से ज्ञात न होता हुआ सब का जानने वाला है "नमतेर्मन्तारंमन्विथा" (बृ० ३।४।२) मति के मन्ता को नहीं जान सकते हो। "अमतोमन्ता" (बृ० ३।७।२३) जो जाना नहीं जाता पर जानने वाला है। "तदेत ब्रह्मा पूर्वम्" (बृ० २।५।१९) वह यह ब्रह्म तत्त्व है, इस से पूर्व कुछ नहीं था। "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) वह सत् तत्त्व ब्रह्म तू ही है। "इदं सर्वं अदयमात्मा" (बृ० ३।५।७) यह सब जो कुछ भी है, वह आत्मा ही है। "यदेवेहतदमुत्रयमुत्रदन्विह" (कठ० २।४।१०) जो ब्रह्म इस लोक में है, वही परलोक में है और जो परलोक में है, वही यहाँ पर है। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (कठ० २।४।१) कोई बिरला धीर पुरुष ही अमृतत्त्व को चाहता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों का निरोधकर अंतरात्मा को देखता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियों में बुद्धि के साक्षी चेतन तत्त्व को निर्विकार परमात्म स्वरूप बतलाया गया है। अतः आत्मा परमात्मा की एकता में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है ॥३६॥

यदनभ्युदितं वदनेन सदा,
नयनेन च पश्यति यन्न सदा।
श्रवणेन च यन्न शृणोति सदा,
मनसापि च यन्मनुते न सदा ॥३७॥

जो वाणी से नहीं कहा जाता है किंतु जिससे वाणी सदा प्रकाशित होती है। जिसे नेत्र से नहीं देख सकता किंतु नेत्र जिससे सदा प्रकाशित होता है। जो सोत्र का विषय नहीं है किंतु जिससे श्रोत्र भी सदा प्रकाशित होता है और जो मन का विषय तहीं है किंतु जिससे सदा मन का प्रकाश होता है, वही आत्मा है, उसी को तुम ब्रह्म समझो।

"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते" (केन० १।४) "यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति" (केन० १।६) "यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम्" (केन० १।७) "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो-मतम्" (केन० १।५) इन सभी श्रुतियों में बाह्याभ्यांतर करणों का अविषय ही ब्रह्म को बतलाया है क्योंकि वह निधर्मक, निर्गुण, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है ॥३७॥

वदनं नयनं च तथा श्रवणं,
मन एव च येन मतं सततम्।

[१४]अवगच्छ [१०]तदेव [१३]पदं [१२]परमं,

[११]त्वमिति[१५]श्रुतिरीक्षितुरुक्तवती ॥३८॥

बोलना, देखना, सुनना तथा मनन करना सदा जिस चैतन्य से जाने जाते हैं, उसी को तुम सर्वोत्कृष्ट तत्त्व समझो। इस प्रकार श्रुतियों ने द्रष्टा आत्मा को ही ब्रह्म कहा है।

"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" उसी को तुम ब्रह्म समझो ऐसा प्रत्येक मंत्र में अभ्यास द्वारा द्रष्टा से अभिन्न ब्रह्म तत्त्व को बतलाया है। तात्पर्य यह है कि चक्षुरादि संपूर्ण बाह्याभ्यांतर करणों को जो अपनी सत्ता स्फूर्ति से क्रियाशील करता रहता है और स्वयं निष्क्रिय है, उसको श्रुति आत्मा अथवा ब्रह्म बतलाती है ॥३८॥

[३]परमात्मपदत्व इयं च [१]मया,

[४]श्रुतिरल्पकणोक्तियरि[२]हाभिहि[५]ता ।

[६]अणिमादि गुणं [८]सदिति [७]प्रकृतं,

[१०]तदसि[९]त्व[११]मिति श्रुतिरभ्यवदत् ॥३९॥

मैंने परमात्मतत्त्व के प्रतिपादन में बहुत थोड़ी ही श्रुतियों को उद्धृत किया है। अणिमादि, गुण और सत् इन शब्दों से जिस ब्रह्म को कहा गया है, वही तुम हो ऐसा भी श्रुति कहती है।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा–द्वितीयम् [छा० ६।२।१] हे सोम्य ! सृष्टि के पूर्व सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य

एक सद् ब्रह्म ही था। इस वाक्य से ब्रह्म की प्रतिज्ञा करके ईक्षण पूर्वक जगत् की सृष्टि और उस में जीव भाव से प्रवेश करके नामरूप का विभाग करना बतलाया गया है। पुनः "स य एषोऽणिमैतदात्म्य-मिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।७) वह यह जो अणु से भी अणु है, वही सब कुछ है। वह सत्य है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है। इस प्रकार अनेक बार श्रुति ने जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है ॥३९॥

जीव और ब्रह्म में कल्पित भेद है

नभसोऽवयवो विकृतिश्च यथा,
घटिकादिनभो न भवेत्तु तथा।
परमात्मन एष न चावयवो,
विकृतिश्च शरीरभृदित्यमृषा ॥४०॥

जैसे घटादि से अविच्छिन्न आकाश घटाकाश आदि नाम से व्यवहार किये जाने पर भी वह महाकाश का अवयव या विकार नहीं है, वैसे ही यह शरीर उपाधि वाला चेनन भी जीवादि नाम से व्यवहार किये जाने पर भी परमात्मा का अवयव या विकार नहीं हो जाता। यह परमार्थ सिद्ध सिद्धांत है।

घटादि उपाधि के कारण घटाकाश आदि नाम और जलाहरण व्यापार भले ही होते रहें फिर भी वह महाकाश स्वरूप ही है। महाकाश से घटाकाशादि का भेद कल्पित वैसे ही एक अखंड चेतन में जीव ईश्वरादि भेद कल्पित उपाधि के कारण कारण ही है, परमार्थतः नहीं। यही सत्य सिद्धांत है ॥४०॥

जीवनाम औपाधिक है

करका[2]दिनिमित्तकमेव यथा[1],
करका[4]म्बरनाम भवेद्वियतः[3] ।
परमात्मदृशेरपि[8] नाम[10] तथा[5],
पुरहेतुकमेव[7] तु[6] जीव[9] इति ॥४१॥

जैसे कमण्डलु आदि निमित्त से आकाश का करकाकाश नाम पड़ जाता है, वैसे ही सर्व साक्षी द्रष्टा स्वरूप परमात्मा का भी देह के निमित्त से ही जीव यह नाम हो जाता है। वास्तव में तो भेद नहीं है।

भले ही घटादि निमित्त से घटाकाश आदि नाम आकाश का हो जाय पर वास्नव में वह महाकाश स्वरूप ही है, ठीक वैसे ही शरीरादि उपाधि के कारण जीवनाम हुआ भी शरीरस्थ चेतन ब्रह्म स्वरूप ही है ॥४१॥

निर्विकार ब्रह्म ही जीव है

जनितं[5] वियद[3]ग्रणियेन[1] जगत्[4],
परमात्म[2]सदक्षरनामभृता ।

९ ६ ८ ७
प्रविवेश स एव जगत्स्वकृतं,

१३ १० १२ ११
खमिवेह घटं घटसृष्टिमनु ॥४२॥

जिस परमात्मा सत् और अक्षर नाम वाले चेतन से आकाश-पूर्वक संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वह स्वयं जगत् रचना के बाद जीवभाव से जगत् में वैसे ही प्रवेश कर गया है, जैसे लोक में घट बनने के बाद उस में घटाकाश प्रवेश कर जाता है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः (तै० २।१) उसी इस आत्मा से आकाश पैदा हुआ। इस श्रुति में परमात्मा से संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई। पुनः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २।६) उस जगत् की रचना कर स्वयं ही उस में जीव भाव से प्रवेश कर गया है। इस वाक्य से परमात्मा का ही जगत् में निर्विकार रूप से प्रवेश बतलाया गया है। यह इसका प्रवेश कहने मात्र के लिये है, वास्तव में तो व्यापक होने के कारण पूर्व से ही वहाँ पर विद्यमान है। जैसे घट बनने से पूर्व भी आकाश विद्यमान ही रहता है। घट सृष्टि के बाद घट में आकाश का प्रवेश केवल कहने मात्र के लिये है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा का जगत् में प्रवेश करना समझना चाहिये ॥४२॥

५ १ ४ २
उदपद्यत खप्रमुखं हि जगत्

३ ६
परमात्मन इत्यपि याः श्रुतयः।

अवधार्यत आभिरभेदमतिः,
परमात्मसतत्त्वसमर्पणतः ॥४३॥

आकाश पूर्वक संपूर्ण जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार जो भी श्रुतियाँ कहती हैं, इन श्रुतियों से भी जीव ब्रह्म का अभेद ही निश्चित् होता है क्योंकि सृष्टि प्रतिपादक श्रुति भी परमार्थतः अद्वितीय परमात्मतत्त्व को ही बतला रही है।

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते" इस न्याय से सृष्टि बतलाने वाली श्रुति का भी अद्वैत तत्त्व बतलाने में ही तात्पर्य है सृष्टि के बतलाने में नहीं। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६।१।४) विकारी घटादि वाणी से कहने मात्र के लिये है वास्तव में तो मिट्टी ही सत्य है। यह श्रुति स्पष्ट रूप से संसार में मिथ्यात्व और ब्रह्म का सत्यत्व बतला रही है। अतः जीव वस्तुतः परमात्म स्वरूप ही है ॥४३॥

सृष्टि श्रुति का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं

यदि सृष्टिविधानपरं वचनं,
फलशून्यमनर्थकमेव भवेत्।
जगदित्थमजायतधातुरिति,
श्रवणं पुरुषस्य फलाय नहि ॥४४॥

यदि वेदांत वाक्य को सृष्टि विधान परक मानोगे तो वह फल शून्य होने के कारण अनर्थक ही हो जायेगा क्योंकि परमेश्वर से जगत् उत्पन्न हुआ। इस प्रकार श्रवण से मुमुक्षु पुरुष को कोई फल नहीं बतलाया गया।

यदि सृष्टि बोधक श्रुति वाक्य का तात्पर्य सृष्टि विधान में माना जाय तो वह अनर्थक हो जायेगा क्योंकि परमेश्वर से जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार श्रवण का कोई फल नहीं बतलाया गया है। इसके विपरीत "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१) ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त कर लेता है। "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) आत्मज्ञानी संसार से तर जाता है। इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान का फल शोकसंतरण सभी श्रुतियों में बतलाया है। अतः सृष्टि श्रुति का तात्पर्य भी ब्रह्म और आत्मा के अभेद बतलाने में ही है ॥४४॥

३ २ १
अनृतत्वमवाद्यसकृद्विकृतेः,

५ ४
निरधारि सदेव तु सत्यमिति ।

८ ७ ६ ९ १४
श्रुतिभिर्बहुधैतदतोऽवगतं,

१० १२ ११ १३
जगतो नहि जन्म विधेयमिति ॥४५॥

वेदांत में बार-बार जगत् का मिथ्यात्व बतलाया गया है और ब्रह्म को ही त्रिकालाबाधित सत्य निश्चय कराया गया है। ऐसा एक बार नहीं किंतु अनेक बार श्रुतियों में आया है। अतः इससे भी यही निश्चित होता है कि श्रुति को जगत् का जन्म बतलाना अभीष्ट नहीं है।

छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में "वाचारंभणं विकारो नामधेयम्" विकार वाणी से कहने मात्र के लिये है। इस प्रकार अनेक

बार जगत् का मिथ्यात्व बतलाया गया है। साथ ही "तत् सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इस वाक्य से नौ बार ब्रह्म का सत्यत्व तथा उसके साथ जीव का अभेद बतलाया गया है। इससे यही निश्चित् होता है कि श्रुति का तात्पर्य सृष्टि बतलाने में नहीं है किंतु जीव ब्रह्म की एकता बतलाने में है ॥४५॥

तत्त्वमस्यादि श्रुति का स्वार्थ में तात्पर्य है

२ १
न च तत्त्वमसीत्यसकृद्वचनं,

३
जगतो जनिमात्रविधौ घटते।

५ ४
परमात्मपदानुमतिं तु यदा,

७ ६ ८
जनयेत्पुरुषस्य तदा घटते ॥४६।

"वह सद् ब्रह्म तू है" ऐसा वचन अनेक बार जो कहा गया है, वह जगत् की उत्पत्ति मात्र प्रतिपादन विधान में घटता नहीं है किंतु जब मुमुक्षु पुरुष को यह वाक्य परमात्म स्वरूप का ज्ञान करावे तभी वह ठीक-ठीक घटता है।

तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में अनेक बार जीव ब्रह्म का अभेद कहा है, वह तभी सुसंगत हो सकता है, यदि वह पुरुष को अपने अनुरूप अर्थ का ज्ञान करा देवें। अन्यथा जगत् की उत्पत्ति कहने मात्र से उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है ॥४६॥

अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य भी अभेद बोधन में ही है

स्थिर[२] जंगम देहधियां चरितं,

परिपश्यति[१] योऽविकृतः पुरुषः ।

परमात्म[४]सदुक्ति[३]रसावि[५]ति यत्,

भणितं[६] तद[८]तिष्ठिपमि[७]त्थमहम् ॥४७॥

पर्वतादि जड़ और मानव आदि चेतन देह एवं उनकी बुद्धियों के संपूर्ण व्यापार का जो निर्विकार पुरुष देखता है वह परमात्म-स्वरूप वेदांत शास्त्र में कहा गया है। इस प्रकार जो हमने पहले कहा था उसी को विरुद्ध प्रमाणों का निषेध कर अच्छी प्रकार से हमने स्थिर कर दिया।

श्रुति में जितने अर्थवाद वाक्य हैं वे सभी जीव ब्रह्म की एकता बतलाने में जुड़े हुए हैं। अपने में कल्पित सभी जड़ चेतन देह धारियों के संपूर्ण जगत् को कल्पित और उसका अधिष्ठान परमात्मा को बतलाते हुए श्रुति में अद्वैत तत्त्व को ही कहा है ॥४७॥

जीव ब्रह्म में अंश-अंशी भावरूप भेद भी इष्ट नहीं

पृ[३]थगेव य[१]दाऽक्षरतो मतिविद्,

[२]मकरोदकवन्न[४] घटाम्बरवत् ।

न विरोत्स्यति तत्त्वमसीति तदा,

वचनं कथमेषत इत्यपि च ॥४८॥

जब बुद्धि के द्रष्टा आत्मा अक्षर ब्रह्म से मकर और जल के समान पृथक् है एवं महाकाश से घटाकाश के समान वह पृथक् नहीं है ऐसा मानोगे, तो 'वह ब्रह्म तू है' और यह अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है इत्यादि श्रुति वचन का विरोध क्यों नहीं होगा ?

जैसा मकर और जल का अत्यंत भेद है, वैसे ही बुद्धि के साक्षी आत्मा और परमात्मा का अत्यंत भेद है, ऐसा यदि माना जाय और महाकाश के साथ घटाकाश के समान काल्पनिक भेद जीव ब्रह्म में न माना जाय तो अभेद बोधक "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति वाक्य आपके पक्ष में क्यों नहीं विरुद्ध होने लगेगें ? और श्रुति विरुद्ध सिद्धांत मानने पर कल्याण कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर आपको देना पड़ेगा ॥४८॥

पूर्व पक्ष में अभेद श्रुति उपासनादि परक है

नतु वस्तु सतत्त्व विबोधनकृद्वि-

निवर्त्तयदप्रतिबोधमिदम् ।

सदुपासनकर्मविधान परं,

यत एवमतो न विरोत्स्यति मे ॥४९॥

"तत्त्वमसि" इत्यादि यह श्रुति वाक्य अज्ञान को निवृत करता हुआ परमात्मवस्तु तत्त्व का बोधक नहीं है, किंतु सद्ब्रह्म की उपासना रूप कर्म का विधान करने वाला है। जब हम ऐसा मान लेते हैं, तब हमारे मत में उक्त श्रुति का विरोध नहीं आयेगा।

श्रुति विरोध का परिहार प्रकारांतर से भी हो सकता है अर्थात् जिसे आपने अभेदार्थ बोधक कहा है, उसे हम सद्ब्रह्म की उपासनारूप कर्म का विधान करने वाला मानते हैं, तब भी श्रुति विरोध का परिहार हो जाता है और उपास्य भेद भी श्रुति संमत सिद्ध हो जाता है ॥४६॥

२
मन आदिषु कारणदृष्टिविधिः,

४ ३ ५
प्रतिमासु च देवधियां करणम् ।

६ १ ७ ८
स्वमतिंह्यनपोह्य यथा तु तथा,

११ ८ १२ १०
त्वमसीह सदात्ममतिर्वचनात् ॥५०॥

जैसा मन आदि प्रतीकों में उसके कारण ब्रह्म की दृष्टि का विधान किया गया है और जैसे प्रतिमा आदि में देव बुद्धि करने का विधान है, ठीक वैसे ही श्रुति वाक्य से अपने स्वरूप जीव बुद्धि का परित्याग न कर 'तुम हो' ऐसा आत्मज्ञान यहाँ पर सिद्ध हो जाता है। अतः श्रुति में कहीं कोई विरोध नहीं है।

जैसे "मनोब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३।१८।१) मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करें इत्यादि श्रुतियों में मन आदि में उसके कारण ब्रह्म की

दृष्टि का विधान है और प्रतिमा में देव बुद्धि करने के लिये कहा गया है। इतने मात्र से मन और ब्रह्म में एवं प्रतिमा और देव में अभेद सिद्ध नहीं हो जाता, बल्कि उसे प्रतीक रूप में देखते हुए उपास्य दृष्टि करनी पड़ती है, वैसे ही अपने जीव भाव का परित्याग न करके उस में सद्ब्रह्म की दृष्टि का विधान मात्र उक्त श्रुति में बतलाया है। इस प्रकार इन वाक्यों को उपासना विधि-परक मान लेने पर भी विरोध का परिहार हो जाता ही है ॥५०॥

अभेद श्रुति गौणार्थक है

अथवा[१] त्वमिति[४] ध्वनिवाच्यमिदं[२],
सदसीति[५] वदेद्वचनं[३] गुणतः ।
विभयं[७] पुरुषं[१२] प्रवदन्ति[६] यथा,
मृगराडयमीश्वरगुप्त[९] इति[१०] ॥५१॥

अथवा त्वं पदवाच्य जीव को 'तू सद्रूप ब्रह्म हो' इस प्रकार यह वेदांत वाक्य गौण दृष्टि से ब्रह्म वैसे ही कह रहा है, जैसे लोक में निर्भीक पुरुष को 'यह ईश्वर गुप्त सिंह है' ऐसा लोग कह देते हैं। ठीक वैसे ही सत् चेतन, आनन्दरूपत्वादि गुणों के कारण ही जीव को 'तत्त्वमसि' महावाक्य में सद्रूप ब्रह्म कह दिया है। इतने मात्र से जीव-ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता है ॥५१॥

अभेद श्रुति अर्थवाद है

१ ४
यदि वा स्तुतये सदसीति वदेत्,

३ २
मघवानसि विष्णुरसीति यथा ।

८
त्वमिति श्रुतिवाच्यसतत्वकता—

५ ७ ६ ६
मथवासतएव वदेद्वचनम् ॥५२॥

अथवा जैसे उदार दाता को याचक लोक प्रशंसा के लिये 'तुम इन्द्र हो' 'तुम विष्णु हो' ऐसा कह देते हैं। वैसे ही 'तुम सद्रूप ब्रह्म हो' ऐसा महावाक्य ने प्रशंसा के लिये जीव को सद्रूप कह दिया है अथवा (यों समझो) सद्रूप तुम ही हो इस प्रकार ब्रह्म को ही जीव कहा गया है न कि जीव को ब्रह्म कहा गया है।

श्रुति ने स्तुति के लिये जीव को 'तू सद्रूप हो' ऐसा कह दिया है। इतने मात्र से जीव ब्रह्म का वस्तुतः अभेद सिद्ध नहीं होता या सद्रूप ही तुम हो ऐसा ब्रह्म को जीवरूप से कहा गया है, न कि जीव को ब्रह्म कहा है। यानी आप के अभिप्राय से विपरीत अर्थ यहाँ पर सिद्ध हो रहा है ॥५२॥

जीव ब्रह्म के अभेद मानने पर उपदेश की व्यर्थता

१
यदि तत्त्वमिति ध्वनिनाभिहितः,

३ २
परमात्मसतत्वकमेव सदा ।

७ १० ५ ४ ८ ६ ९
किमिति स्वकमेष न रूपमवेत्,

१२ ११
प्रतिबोध्यत एव यतो वचनैः ॥५३॥

यदि 'वह ब्रह्म तुम हो' इस महावाक्य से सदा परमात्मस्वरूप सत् तत्त्व को ही कहा जाता है, तो भला क्या यह जीव अपने स्वरूप ब्रह्म को नहीं जानता है ? जिससे कि वेदांत वाक्यों द्वारा ही इसे स्वरूप का बोध कराया जाता है ?

अपना स्वरूप कभी भी परोक्ष नहीं होता। यह नियम है, यदि जीव ब्रह्म का अभेद स्वभाव से सिद्ध है, तो उसका ज्ञान सदा जीव को होना ही चाहिये फिर तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अभेद बोध कराना निरर्थक ही होगा ॥५३॥

पूर्वपक्ष का उपसंहार

१ ४
अत एव हि जीवसदात्मकतां,

५ २ ६ ३
न हि तत्त्वमसीति वदेद्वचनम् ।

७ ९ ८ १०
यदपीदृशमन्यदतो वचनं,

१२ ११
तदपि प्रथयेदनयैव दिशा ॥५४॥

इसीलिये 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य उपासना-परक होने के कारण जीव को सत्स्वरूपता का उपदेश नहीं करता है, किंतु जीव

में ब्रह्म दृष्टि करने के लिये उपदेश करता है। ऐसे ही अन्य भी कोई श्रुतिवाक्य हो तो उसे भी पूर्वोक्त युक्तियों से उपासना परक लगा लेना चाहिए।

जब यह बात निश्चित् हो चुकी कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान नहीं कराता है, किंतु जीव में ब्रह्म दृष्टि का विधान मात्र करता है अर्थात् जीव को ब्रह्म दृष्टि से उपासना करने के लिये कह रहा है, तो ऐसे ही अन्य श्रुति वाक्य की संगति भी उक्तरीति से अनायास ही लग जाती है ॥५४॥

सिद्धांत पक्ष का निरूपण

[४] त्वदुदाहृतवाक्यविलक्षणता,
[३] वचनस्य [२] हि तत्त्वमसीति [१] यतः।
[५] अतएव न दृष्टिविधानपरं,
[६] सत एव सदात्मकतागमकम् ॥५५॥

क्योंकि तत्त्वमसि महावाक्य के साथ तुम्हारे उद्धृत श्रुतिवाक्य में विलक्षणता है। इसलिये यह वाक्य उपासना विधान नहीं करता, किंतु सद्रूप जीव को सत् स्वरूप ब्रह्मरूपता का बोध कराता है।

"मनोब्रह्मेत्युपासीत" इस उपासना विधायक वाक्य में और 'तत्त्वमसि' इस अभेदार्थ बोधक महावाक्य में जब कि अत्यंत विलक्षणता है, तो फिर भला इसे उपासना विधान करने वाला कैसे मान सकते हो। यह तो पहले से सिद्ध सच्चिदानंद जीव को ही सत्स्वरूप ब्रह्मरूपता का ज्ञान करने वाला वाक्य है ॥५५॥

उक्त द्विविध वाक्यों में विलक्षणता का कारण

३
इति शब्दशिरस्कपदोक्तमतिः,

२ १
विहिता मनआदिषु तैर्वचनैः ।

८ ७ ४ ३ ६ ५
न विधानमिहास्ति तथा वचने,

१२ ११ १०
सुविलक्षणमेतदतो वचनात् ॥५६॥

उन उपासना विधायक वाक्यों में इति शब्द ऊपर रखकर ही उन पदों से उपासना बुद्धि का विधान मन आदि प्रतीकों में किया गया है, किंतु महावाक्य में वैसा नहीं दीखता है। इसलिये महावाक्य में उपासना का विधान नहीं है क्योंकि उपासना विधायक वाक्य से इस में अत्यंत विलक्षणता है।

"मनोब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि उपासना विधायक वाक्य में प्रतीक को पहले और विधेय अंश को पीछे रखने के बाद इति शब्द लगाकर ही मन आदि में ब्रह्म दृष्टि का विधान किया गया है किंतु अभेद बतलाने वाली 'तत्त्वमसि' इस श्रुति में इति पद नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य को उपासना का विधायक मानना असंगत है ॥५६॥

उपासना परक वाक्य में विलक्षणता

२
मनसोवियतः सवितृप्रभृतेः,

५ ४ १ ३
प्रवदन्ति न तानि सदात्मकताम् ।

६ ७ १०

मनआदि हि मुख्यमुपास्यतया,

९ ८

प्रवदन्ति यतोऽक्षरदृष्टियुतम् ॥५७॥

उपासना विधायक वाक्य मन, आकाश और आदित्यादि में सद्रूपता नहीं बतलाते हैं किंतु अक्षर ब्रह्म दृष्टि से युक्त मन आदि को ही मुख्यतया उपास्य रूप से कहते हैं।

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मदृष्टि युक्त मन आदि को ही मुख्यतः उपास्य रूप से 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि उपासना बोधक श्रुतिवाक्य बतला रहे हैं, न कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि के समान मन आदि में सद्रूपता का ज्ञान कराते हैं। अतः दोनों श्रुति वाक्यों में अत्यंत भेद है ॥५७॥

उपासना वाक्य में अभेद बोधकता नहीं

२ ४ ३ ५ १

करको न मृदः पृथगस्ति यथा,

७ ६ ९ ८

मनआदि सतोऽस्ति तथा न पृथक् ।

१० १३ १२ ११

इति वस्तुसतत्वकता तु यदा,

१६ १५ १४ १७

विधिशब्द इतिश्च तदा तु वृथा ॥५८॥

जैसे मृत्तिका का पात्र करक (कमण्डलु) मृत्तिका से भिन्न नहीं है, वैसे ही मन आदि भी सद्ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस प्रकार यदि उन उपासना वाक्यों को सत्यवस्तु प्रतिपादक मानो, तो विधायक लिंगादि शब्द और इति शब्द व्यर्थ हो जायेंगे।

यह ठीक है कि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता है, जैसे मिट्टी का कार्य घटादि मिट्टी से भिन्न नहीं, वैसे ही सद्ब्रह्म का कार्य मन आदि सत् से भिन्न नहीं है किंतु इस आधार पर मन और ब्रह्म में अभेद बोधक यदि 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि वाक्यों को मानोगे तो इस वाक्य में पड़ा हुआ "उपासीत" यह विधिलिंग और इति शब्द दोनों ही व्यर्थ पड़ जायेंगे। अतः शास्त्र प्रक्रिया के अनुसार ऐसे वाक्य अभेद बोधक नहीं है ॥५८॥

उपासना वाक्य को अभेदार्थक मानने में दोष

२
मनआदिसमानविभक्तितया,
४ ३ ५ १
विधिशब्दमितिं च विहाय यदि।
६
जनकेन सता सहयोगमिया-
८ ७ ६
दनृतं तदितिस्फुटमुक्तमभूत् ॥५६॥

यदि समान विभक्ति वाले पद से प्रतिपाद्य होने के कारण मन आदि अपने जनक सत् के साथ विधि शब्द और इति शब्द को छोड़ कर अभेद को प्राप्त हो जायेंगे, ऐसा मानो तो तुम्हारा पूर्वोक्त कथन स्पष्ट मिथ्या हो जायेगा।

'मनोब्रह्मेत्युपासीत' इस वाक्य में मन और ब्रह्म पद समान विभक्ति वाले हैं। समान विभक्ति अभेदार्थ स्थल में ही होती है। ऐसी स्थिति में यदि विधि शब्द और इति शब्द ब्रह्म के साथ मन के अभेद होने में बाधक हो रहे हों तो इनका त्याग कर देना चाहिये और "मनोब्रह्म" इन दोनों पद मन और ब्रह्म के अभेद अर्थ का

बोधक हो जायेंगे। ऐसा माना जाय; तो वह मन निःसन्देह मिथ्या हो जायेगा अर्थात् ब्रह्म के साथ अपने स्वरूप को बाँधकर ही मन अभिन्न हो सकता है, मुख्य रूप से मन और ब्रह्म का अभेद सिद्ध न हो सकेगा ॥५९॥

समानाधिकरण श्रुति में सर्वत्र दोष की आशंका

१ ४ ३ २
ननु जीवसतोरपि तत्त्वमिति,

५
स्फुटमेकविभक्त्यभिधानमिदम् ।

८ ७ १०
कथमस्य शरीरभृतोऽनृतता,

६ ११ ६
न भवेदविभक्तविभक्तियुजः ॥६०॥

पूर्वपक्षी शंका करता है कि "तत्त्वमसि" इस वाक्य ने भी समान विभक्ति के द्वारा ही सत् और जीव का अभेद स्पष्ट रूप से कहा है फिर भला एक विभक्ति से युक्त होने पर इस शरीरधारी जीव में मिथ्यात्व कैसे नहीं आयेगा ?

जीव और ब्रह्म का अभेद भी समान विभक्ति के कारण ही "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य द्वारा आपने सिद्ध किया है तो "मनोब्रह्म" इत्यादि स्थल में जैसे मन आदि में मिथ्यात्व दोष की आशंका आपने की है, वैसे ही ब्रह्म के साथ जीव के अभेद मानने पर जीव में मिथ्यात्व आ ही जायेगा फिर जीव नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है, ऐसा आपका कथन कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥६०॥

अभेद स्थल में दोष का वारण

२ १
प्रकृतेरभिधानपदेन यदा-
३ ५ ४
विकृतेरभिधानमुपैति युजाम् ।
९ ७ ६ ८
अनृतत्वमतिस्तु तदा विकृतौ,
१२ ११ १३ १०
मृदयं घट इत्यभिधासु यथा ॥६१॥

जहाँ पर कारण वाचक पद के साथ कार्य बाचक पद संबंध को प्राप्त करता है, वहाँ पर ही कार्य में मिथ्यात्व बुद्धि होती है। जैसे "यह घट मिट्टी है" इत्यादि वाक्यों में कार्य कारण अर्थ के वाचक समान विभक्ति वाले पद हैं। अतएव घटकार्य में मिथ्यात्व बुद्धि होती है।

समानाधिकरण दो प्रकार का होता है, मुख्य समानाधिकरण और बाध समानाधिकरण। इन में घट और मृत्तिका के समान "मनोब्रह्म" इस वाक्य में बाध समानाधिकरण है क्योंकि ब्रह्म कारण है और मन कार्य है। पर "तत्त्वमसि" इत्यादि स्थल में मुख्य समानाधिकरण है क्योंकि जीव और ब्रह्म वास्तव में एक ही है। जीव ब्रह्म का कार्य नहीं है। अतः जीव में मिथ्यात्व की आशंका निर्मूल है ॥६१॥

मन आदि कार्य में मिथ्यात्व का वर्णन

५ ४
विकृतित्वमवादिमनःप्रभृते-

१ ३ २
र्बहुशः श्रुतिषु प्रकृतेस्तु सतः ।

६
अत एव समानविभक्तितया,

मनआदिसुवेद्यमसत्यमिति ॥६२॥

अनेक श्रुतियों में मन आदि को ब्रह्मरूप कारण का विकार अनेक प्रकार से कहा है। अतः समान विभक्ति वाले पद से निर्दिष्ट होने के कारण मन आदि कार्य स्पष्ट रूप से मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च (मुण्ड० २।३) इस परमेश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं इत्यादि अनेक श्रुतियों में मन आदि को ब्रह्म का कार्य माना गया है। जहाँ पर कार्य कारण को बतलाते समय समान विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, वहाँ ही कार्य अपने स्वरूप को बाध कर कारण के साथ अभिन्न होता है। इसलिये मन आदि में मिथ्यापन स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। पर जीव तो ब्रह्म का कार्य नहीं है, जिससे कि उस में मिथ्यात्व की आशंका की जाय ॥६२॥

जीव में ब्रह्म कार्यत्व का निषेध

४ ६ ५ १
जनितत्वमवादि नहि श्रुतिभि-

३ २
र्जनकेन सतास्य शरीरभृतः ।

१०
मन-आदिविकारविलक्षणतां,

६ ८ ७
प्रतियन्ति शरीरभृतस्तु ततः ॥६३॥

श्रुतियों ने इस देहधारी जीव को सद्ब्रह्म से उत्पन्न होना नहीं कहा है। अतः जीव में मन आदि कार्य की अपेक्षा विलक्षणता है, ऐसा विवेकी पुरुष मानते हैं।

बात यह है कि किसी भी श्रुति में जीव की उत्पत्ति परमेश्वर से नहीं बतलायी गयी है किंतु मन आदि की उत्पत्ति सभी श्रुतियों में कही गई है। अतः कार्य होने से मन आदि में मिथ्यात्व है। पर जीव में मिथ्यात्त्व नहीं है। ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग मानते हैं ॥६३॥

जीव स्वरूप

१ ५ ४
यदजीजनदम्बरपूर्वमिदं,

३ २
जगदक्षरमीक्षण विग्रहकम् ।

६ ६ ८ ७
प्रविवेश तदेव जगत्स्वकृतं

१०
स च जीवसमाख्य इति श्रुतयः ॥६४॥

अक्षर ब्रह्म ने संकल्प पूर्वक आकाशादि जगत् को उत्पन्न किया और पुनः अपने बनाये हुए जगत् में वह स्वयं प्रवेश कर गया। बस यही जीव भाव से श्रुतियों में कहा गया है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१) वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंतस्वरूप है। उसी से आकाशादि जगत् की उत्पत्ति हुई है। पुनः

वही ब्रह्म अपने बनाये हुए जगत् में प्रवेश कर गया। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २।६) संसार की रचना कर वह ब्रह्म स्वयं उस में जीवभाव से प्रवेश कर गया। उपाधि में प्रविष्ट चेतन भाग का नाम जीव पड़ गया है। वह जीव ब्रह्म का विकार नहीं है किंतु साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः जीव में मिथ्यात्व बतलाना असंगत है ॥६४॥

[२]

परमात्मविकारविभक्तमति-

[१]

र्नभवत्यत एव शरीरभृतः।

यतएव विकारविभिन्नमति-

र्नभवत्यत एव मृषात्वमतिः ॥६५॥

इसीलिये देहधारी जीव में परमात्म विकार रूप भेद बुद्धि होती नहीं, जब विकार से भिन्न बुद्धि जीव में होती है। अतएव उस में मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती।

पूर्वोक्त कारणों से जब जीव परमात्मा का विकार ही नहीं है, तो उस में मिथ्यात्व बुद्धि का प्रसंग कैसे आ सकता है। अतः कार्य कारण में समान विभक्ति रहने पर ही कारण के साथ कार्य का अभेद बतलाने पर कार्य में मिथ्यात्व बुद्धि होती है। जीव ब्रह्म का कार्य नहीं अपितु सच्चिदानंद ब्रह्म स्वरूप ही जीव है ॥६५॥

[६]

अविभक्तविभक्त्यभिधानकृता,

[४] [५]

परमात्मपदेन शरीरभृतः।

न भवेदिह तत्त्वमसि–प्रभृतौ,

लवणं जलमित्यभिधासु यथा ॥६६॥

जैसे नमक जल है इस प्रकार के वाक्यस्थ पदों में कार्य कारण भाव होने के कारण समान विभक्ति होती है। वैसे परमात्म वाचक पद के साथ जीवात्मक वाचक पद में समान विभक्ति नहीं है। अतः "तत्त्वमसि" इत्यादिक महावाक्यों में कार्य कारण भाव के कारण सामानाधिकरण्य नहीं है।

समुद्र जल का कार्य नमक है, इसलिये नमक जल है। इस प्रकार दोनों पदों में समान विभक्ति जैसे होती है, वैसा यहाँ महावाक्य में जीव और ब्रह्म के वाचक "तत्त्वम्" इन पदों में कार्य कारण भाव के कारण समान विभक्ति नहीं है। इसलिये जीव में मिथ्यात्व बुद्धि का प्रसंग नहीं आता किंतु जीव ब्रह्मस्वरूप है। अतः महावाक्य में मुख्य सामानाधिकरण्य ही है ॥६६॥

कार्य जगत् से जीव में विलक्षणता

परमात्मबिकारनिराकरणं,

कृतमस्य शरीरभृतस्तुयतः।

परमेश्वररूपविलक्षणता,

न मनागपि देहभृतोस्ति ततः ॥६७॥

जिस कारण से इस जीव में परमात्म कार्यत्व का निषेध श्रुति में किया गया है, इसीलिये जीव में परमात्म स्वरूप की अपेक्षा से थोड़ी भी विलक्षणता नहीं है।

श्रुति में जीव को परमात्मा का कार्य नहीं माना है किंतु परमात्मा ही अन्तःकरण रूप उपाधि कारण से जीव भाव में स्थित है। ऐसी परिस्थिति में जीव ब्रह्म में स्वल्प भेद की आशंका नहीं होती ॥६७॥

अभेद कथन क्यों

१ ३
ननु जीवसतोरणुमात्रमपि,

५ ४ ६ २
स्वगतं न विशेषणमस्ति यदा।

१३ ८ १२ ७ १०
वद तत्त्वमसीति तदा वचनं,

११ ९
किमुवक्ति तथैषत इत्यपि च ॥६८॥

शंकाः—जब जीव और ब्रह्म में स्वरूपतः अणुमात्र भी भेद नहीं है, तो फिर "तत्त्वमसि" यह वाक्य क्यों कहते हो? वैसे ही यह तुम्हारा आत्मा ही अंतर्यामी अमृत है ऐसा भी क्यों कहते हो? इसका उत्तर दो?

जीव और ब्रह्म के स्वरूप में अणुमात्र भी जब भेद ही नहीं है, तब "तत्त्वमसि" वह तू है "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह० ३।७।२३) यह तुम्हारा आत्मा अंतर्यामी अमृत है इत्यादि वाक्यों से अभेद बोधन की क्या आवश्यकता? क्योंकि जीव ब्रह्म का अभेद तो उक्त उपदेश से पूर्व भी सिद्ध ही है ॥६८॥

अभेद कथन का तात्पर्य

३ १ ५
स्वगतं यदि भेदकमिष्टमभू-
४ २
दणुमात्रमपीश्वरदेहभृतोः ।
८ ७
अपनेतुमशक्यमदोवचनै-
६
रमुनास्य पृथक्त्वनिषेधपरैः ॥६९॥

यदि ईश्वर और जीव के स्वरूप में अणुमात्र भी भेद इष्ट होता, तो परमात्मा के साथ जीवात्मा के भेद निषेध करने वाले उन श्रुति वाक्यों से भेद का निराकरण अशक्य ही था।

जीव और ब्रह्म में स्वल्प भी भेद मान्य हो तो फिर उसका निषेध कैसे किया जा सकता है। स्वाभाविक धर्म का निषेध शब्द से हो नहीं सकता। अग्नि स्वभाव से उष्ण है, तो उसके विरुद्ध उसे शीतल सहस्र शब्द भी नहीं कर सकते। अतः जीव ब्रह्म का भेद कल्पित है। इसी कल्पित भेद का निषेध करके पारमार्थिक अभेद का उपदेश श्रुतिवाक्य कर रहा है ॥६९॥

परमार्थतः जीव ब्रह्म का भेद असम्भव

१
इह यस्य च यो गुण आत्मगतः,
४ २ ५ ३
स्वत एव न जातु भवेत्परतः ।

७ ६ ९ ८
वचनेन न तस्य निराकरणं,

१० १३ १२ ११
क्रियते स गुणः सहजस्तु यतः ॥७०॥

इस लोक में देखा गया है कि जिसका अपने स्वरूप से जो गुण होता है, वह कभी भी दूसरे से नहीं हट सकता। उसके स्वगत गुण का निषेध वचन से नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह गुण स्वाभाविक है।

इस प्रत्यक्ष व्यवहार दशा में देखा गया है कि स्वरूप से जिस वस्तु का जो अपना गुण होता है जैसे अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता वह कभी भी किसी दूसरे कारण से हटाया नहीं जा सकता है। अतः प्रामाणिक वचन भी स्वभावसिद्ध गुण का अपलाप नहीं कर सकता ॥७०॥

वाक्य ज्ञापक होता है कारक नहीं

१ २ ४ १
वचनं त्ववबोधकमेव यतः,

५ ७ ६
ततएव न वस्तु विपर्ययकृत् ।

१२ १० ९ ११
न हि वस्त्वपि शब्दवशात्प्रकृतिं,

१३ ८
प्रजहात्यनवस्थितिदोषभयात् ॥७१॥

जब कि वाक्य ज्ञापक होता है, इसीलिये वह किसी वस्तु को बदल नहीं सकता। अव्यवस्था दोष के भय से भी सत्य पदार्थ शब्द के कथन मात्र से अपने स्वभाव को छोड़ता नहीं।

जो वस्तु जिस स्वभाव वाली होती है, शब्द केवल उसी रूप में उसका बोध कराता है, वस्तु के स्वभाव या स्वरूप में परिवर्तन करना शब्द का सामर्थ्य नहीं। यदि वस्तु स्वभाव में परिवर्तन करने वाला शब्द को माना जाय तो आग शीतल होती है और जल उष्ण होता है। इतने कह देने मात्र से वैसे दोनों को हो जाना चाहिये, फिर तो संसार में कोई व्यवस्था ही नहीं रह जायेगी। इस अव्यवस्था के भय से भी यही मानना पड़ेगा, कि शब्द के कारण वस्तु के स्वरूप और स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता है। इसीलिये वार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है—

'न हि स्वभावो भावानां वावर्त्येतौष्ण्यवद्रवेः।
स्वभावाद्विनिवृत्तोऽर्थोनिःस्वभावः खपुष्पवत्' ॥

जैसे सूर्य का उष्ण स्वभाव बदलता नहीं, वैसे ही वस्तु का स्वभाव बदलता नहीं। यदि पदार्थ अपने स्वभाव से बदलने लग जाय तो वह आकाश कुसुम के समान निःस्वभाव हो जायेगा, फिर तो अपने स्वभाव को छोड़ देने पर वह पदार्थ भी नहीं रह जायेगा। भला अग्नि की उष्णता के निकल जाने पर अग्नि किस काम का रह जायेगा। अतः जीव ब्रह्म के कल्पित भेद को ही वेदांत वाक्य निषेध करता है। पारमार्थिक भेद को तो सहस्र वाक्य भी निषेध नहीं कर सकते ॥७१॥

कल्पित गुण का ही निषेधक वाक्य होता है

यत[१] एवमतो विषयस्य गुणं[५],

विषयेण[४] सहात्मनि[३] मूढधिया।

२
अधिरोपियमप्स्विव भूमिगुणं,

७ ६
प्रतिषेधति तत्त्वमसीति वचः ॥७२॥

क्योंकि वेदांत वाक्य से कल्पित गुणों का ही निषेध होता है। अतः विषय के सहित विषय का गुण मूढ़ बुद्धि पुरुष से जो आत्मा में आरोपित है, उसका निषेध 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य वैसे ही करता है, जैसे शुद्ध जल में आरोपित पृथ्वी के गंध आदि गुण का निषेध लौकिक वाक्य करता है।

पूर्वोक्त प्रसंग से यह निश्चित् हो चुका है कि कल्पित वस्तु का ही निषेध श्रुति वाक्य करता है। अतः आत्मा में मूढ़ बुद्धि पुरुषों द्वारा अनात्म विषय और उसके धर्म का जो आरोप हो रहा है, उसी का "स्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० ३।८।८) "अशब्दमस्पर्शम् (कठो० १।३।२५) आत्मा स्थूल नहीं है, न अणु है, न ह्रस्व है। वह शब्द और स्पर्श वाला भी नहीं है। इत्यादि वचनों से निषेध कर परमात्मवस्तु का बोध कराया गया है। जैसे शुद्ध जल में पृथ्वी के गुणों का आरोप होता है, ठीक वैसे ही आत्मा में अनात्मवस्तु के धर्म का अध्यास हो रहा है ॥७२॥

महावाक्य उपासना का विधायक नहीं है

७ ६
अतएव न दृष्टिविधानपरं,

११ ११ ८
गुणवादपरं च न तद्वचनम् ।

१३ १२ ४
स्तुतिबाद्यपि नैतदुपास्यतया,
२ ५ ३ ६ १
विधिरत्र न देहभृतोस्ति यतः ॥७३॥

क्योंकि वेदांत वाक्य में उपास्यरूप से जीव का विधान नहीं है। इसलिये तत्त्वमसि यह श्रुतिवाक्य उपासना विधान नहीं करता है, न गुणवाद परक है, और न स्तुतिवाद परक ही है।

"तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य में विधि परक लिंगादि प्रत्यय नहीं हैं, फिर भला इसे उपासना का विधायक कैसे मान सकते हो। वैसे ही 'देवदत्त सिंह है' इस प्रकार गुणवाद को भी नहीं कहता और न 'तुम विष्णु हो' ऐसी प्रशंसा ही करता है यह तो वस्तु तत्त्व का बोधक है। अतः पूर्वपक्षी की कल्पना निराधार ही है ॥७३॥

महावाक्य में विपरीतार्थ बोधकता नहीं

४ १ ७ ३
सत एव हि नाम जगत्प्रकृते-
५ २ ६
रुपधानवशादिह जीव इति।
८ ११ १०
अतएव न जीवसतत्वकतां,
९ १२
प्रकृतस्य सतः प्रतिपादयति ॥७४॥

क्योंकि वेदांत सिद्धांत में जगत्कारण सत् ब्रह्म का ही उपाधि के कारण से जीव ऐसा नाम माना गया है। अतः प्रकृत सत् तत्त्व को जीवरूपकता का प्रतिपादन श्रुति नहीं करती है।

जो सत् तत्त्व संपूर्ण विश्व का विवर्त उपादान कारण है, उसी को उपाधि से वेदांत शास्त्रों में जीव कहा है। यह भी स्मरण रहना चाहिये कि सद् ब्रह्म का प्रसंग चल रहा है, उसे जीवरूप देने के लिये श्रुति अकस्मात् तत्पर हो जाय, तो यह अप्रासंगिक बात मानी जायेगी। अतः प्रकरणानुसार महावाक्य ब्रह्म को जीव नहीं कह रहा है किंतु जीव ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराता है, वही मानना उचित होगा ॥७४॥

१ ३
यदि जीवसतत्वकतां गमये-

२
दणिमादिगुणस्य जगत्प्रकृतेः।

५ ४ ६
अणिमादिगुणोक्तिरतोऽस्यमृषा,

७
यदि वास्य शरीरभृदात्मकता ॥७५॥

यदि महावाक्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुण वाले जगत्-कारण सद्ब्रह्म में जीवरूपकता का बोधन करने लग जाय, तो फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों का वर्णन इसका व्यर्थ हो जायेगा अथवा अणिमादि गुणों का कथन सार्थक माना जाय, तो ब्रह्म में जीवरूपता का वर्णन व्यर्थ हो जायेगा।

"एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यंस आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) यह आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इसी के साथ संपूर्ण यह जगत् तादात्म्य भाव को प्राप्त है, वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है। इस श्रुति में परमेश्वर को सूक्ष्मातिसूक्ष्म माना गया

यदि इस वाक्य से ब्रह्म में जीवरूपकता का प्रतिपादन माना जाय, तो अणिमादि गुणों का वर्णन व्यर्थ हो जायगा क्योंकि अणिमादि गुण ब्रह्म की दुर्बोधता के लिये कहा गया है और यदि इस दुर्बोधता के सूचक अणिमादि गुणों का वर्णन सार्थक माना जाय, तो फिर जो आप कहना चाहते हैं कि यह महावाक्य ब्रह्म में जीवरूपकता का बोधक है, वह विपरीत कथन व्यर्थ हो जायेगा ॥७५॥

> [६] न च [५] संसृतिहेतुनिराकरणं,
>
> [७] कृतमस्य [४] शरीरभृतो[८]ऽभिमतम् ।
>
> [१] परमेश्वरमात्मतया ब्रुवता,
>
> [३] वचनेन च [२] तत्त्वमसीत्यमुना ॥७६॥

आपके मतानुसार परमेश्वर को जीवरूप से बतलाने वाले 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से इस जीवात्मा के अभिमत जन्म मरणादि संसार कारण का निराकरण नहीं किया गया है, ऐसा सिद्ध होने लग जायेगा ।

यदि आप 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य को परमेश्वर में जीवरूपता का प्रतिपादक मानोगे, तो यह जीव के अभिमत अर्थ का साधक नहीं हो सकेगा । संसार दुःख की निवृत्ति जीव को अभीष्ट है, वह तो इस वाक्य से हुआ नहीं, उल्टे नित्य मुक्त परमेश्वर को बंधन बतलाने वाला यह वाक्य हो जायेगा । इस प्रकार महान अनर्थ हो जायेगा ॥७६॥

विपरीतार्थ अबोधकता में अन्य हेतु

त्वमसीति[१] पदद्वयमेति[३] युजां[२],
तदिति[४] ध्वनिना सह तत्त्वमिति।
क्रियया[७] सह नामपदं समिया[९]–
न्निरपेक्ष्यमुपैत्य[६]नया[५] हि[८] युजाम् ॥७७॥

पहले 'तुम हो' ये दोनों पद संबंध को प्राप्त करते हैं तत्पश्चात् वे दोनों पद 'तत्' इस शब्द के साथ संबंध को प्राप्त करते हैं क्योंकि सुबंत पद उस क्रिया के साथ संबंध को जब प्राप्त करें, तब वह निराकांक्ष होता है।

'त्वमसि' इन दो पदों का संबंध पहले होता है। तत्पश्चात् जब आकांक्षा होती है कि मैं कौन हूँ ? तभी सद्ब्रह्म के लक्षक तत् पद के साथ उक्तपदों का संबंध हुआ करता है। यह भी इसलिये शब्दशास्त्र में माना गया है कि क्रिया के साथ संबंध हुए बिना कारक में आकांक्षा बनी रहती है। वैसे ही क्रिया को कारक की आकांक्षा होती है। अतः महावाक्यस्थ पदों के परस्पर संबंध की ओर देखने पर भी इसे विपरीतार्थ बोधक मानना सर्वथा अनुचित है ॥७७॥

न[५] हि नाम[३] सहस्रमपि[२] क्रियया[१]–
रहितं किमपि[४] प्रतिपादयति[६]।

प्रतिपादकमेषु लिङादि भवे-

द्विहितादिमतेर्जनकं हि यतः ॥७८॥

क्रिया से रहित हजारों सुबंत भी किसी अर्थ के बोधक नहीं होते क्योंकि इन वाक्यों में क्रियाबोधक लिङादि पद होते, तो ये विधि और निषेध बुद्धि के जनक माने जाते।

जिन वाक्यों में लिङ्, लोट् आदि प्रत्यय होते हैं, उन्हीं वाक्यों को किसी अर्थ का विधायक या निषेधक माना जाता है। इससे भिन्न वाक्य तो क्रियायुक्त होता हुआ भी सिद्ध अर्थ का ही बोधक होता है किंतु क्रियापद न रहने पर तो हजारों सुबंत वाक्य भी किसी अर्थ के बोधक नहीं होते। यह विचारकों की प्रक्रिया है ॥७८॥

भगवानपि मध्यममेव यतो,

विनियच्छति युष्मदि नित्यमतः।

प्रथमं त्वमसीति पदे समित-

श्चरमं त्वसिना समियात्तदिति ॥७९॥

क्योंकि भगवान् पाणिनि भी युष्मद् शब्दों में ही मध्यम पुरुष को नित्य विनियुक्त करते हैं। अतः 'तुम हो' इन पदों में संबंध पहले होगा और अन्त में 'असि' पद के साथ तद् इस पद का संबंध होगा।

शब्दशास्त्र के पारंगताचार्य पाणिनि ने विधान किया है कि "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः" समानाधिकरण में युष्मद् शब्द समीप में उच्चरित होने पर क्रिया में मध्यम पुरुष ही प्रयुक्त होता है, इस नियम के अनुसार असि इस क्रियापद के साथ पहले त्वं इस पदका ही संबंध हो सकता है, तत् पदका नहीं। उसका अन्वय तो आकांक्षावशात् असि क्रिया के साथ पीछे हुआ करता है। अतः 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य ब्रह्म में जीव का प्रतिपादक नहीं है ॥७६॥

पुरुषोभिहितस्त्वमसीति यदा,
किमसानि वदेति तदाभिमुखः।
श्रवणाय भवेदणिमादिगुणं,
सदिति प्रकृतं त्वसीति वदेत् ॥८०॥

जब आचार्य ने 'तुम हो' ऐसा साधक को कहा, तब शिष्य की बुद्धि में स्वभाव से आकांक्षा हो जाती है, कि मैं क्या हूँ ? यह मुझे बतलावें। इस प्रकार श्रवण के लिये जब शिष्य अभिमुख होता है, तब आचार्य उसे प्रकृत सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणवाले सद्ब्रह्म का उपदेश करते हैं कि तुम ब्रह्म हो।

जिस समय साधन चतुष्टय संपन्न अधिकारी पुरुष को सद्गुरु उपदेश करते हैं कि 'तुम हो' तो वह स्वभाव से प्रश्न कर उठता है, मैं क्या हूँ ? इसका मुझे उपदेश करें ? इस प्रकार सद्ब्रह्म तत्त्व को सुनने के लिये शिष्य जब अभिमुख होवे तब आचार्य उसे उपदेश करे कि 'तुम वही हो' जिसका "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छा० ६।२।१]

हे सौम्य ! इस सृष्टि से पूर्व केवल सद् ब्रह्म ही था इत्यादि वाक्य से प्रसंग प्रारंभ किया गया था। जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, वही सत्य ब्रह्म तुम हो। इस प्रकार अन्वय करने पर ही संगति बैठती है ॥८०॥

विपरीतार्थ अबोधकत्त्व का उपसंहार

२ ६ ४ ५ १
त्वमसि ध्वनिनाभिहितस्य यतः,

६
तदिति श्रुतिवाच्यसदात्मकताम् ।

८ ७ ९ १० ११
अवदद्वचनं तत एव सतो,

१३ १२ १४
नहि जीवसतत्वकतां वदति ॥८१॥

क्योंकि 'तुम हो' इस त्वम् पद लक्ष्यार्थ अंतरात्मा को ही तत् पद लक्ष्यार्थ रूप महावाक्य कहता है। इसीलिये सद्रूप ब्रह्म में जीवरूपता को वह नहीं बतलाता।

महावाक्य के 'त्वम्' पद से कूटस्थ आत्मा लक्षित होता है। उसका अभेद तत् पद लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म के साथ महावाक्य द्वारा बतलाया गया है। अतः ब्रह्म में जीवरूपता का बोधनरूप विपरीत अर्थ का प्रतिपादक महावाक्य को सर्वथा नहीं मान सकते ॥८१॥

इन्द्रियों की वहिर्मुखता ब्रह्मज्ञान में बाधक

६ ३
विषयाभिमुखानि शरीरभृतः,

२ ५ ४ १
स्वरसेन सदा करणानि यतः ।

९ ८ ११ १० १२ ७
स्वकमेष न रूपमवैति ततः,

१६ १४ १३ १५
प्रतिबोध्यत एव ततो वचनैः ॥८२॥

क्योंकि स्वभाव से जीव की इंद्रियाँ सदा विषयाभिमुख रहती हैं। इसीलिये यह जीव अपने स्वरूपभूत ब्रह्म को नहीं जान पाता है। अतएव वेदांत वाक्यों द्वारा उसको अपने स्वरूप का वोध कराया जाता है।

इंद्रियाँ स्वभाव से सदा बहिर्मुख रहती हैं, इसे सभी जानते हैं। बस इसी कारण से यह बेचारा जीव अपने विशुद्ध स्वरूप ब्रह्म को नहीं जान पाता। ऐसी परिस्थिति में श्रुति वाक्यों द्वारा जीव को अपने स्वरूप का वोध कराना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। अतः साधन चतुष्टय संपन्न पुरुष महावाक्य को सुनते ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥८२॥

उक्त विषय में प्रमाण

७ २ ३ ४
वचनं च पराञ्चिपुरःसरकं,

६ ५ १ ८ १४
बहुवैदिकमत्र तथास्मरणम्।

१० ९ ११ १३
विषयेषु च नावमिांभसि यत्,

१२
मनसैन्द्रिय रश्मिविनिग्रहवत् ॥८३॥

इस विषय में "पराञ्चिखानि" (कठो० २।१।१) इत्यादि अनेक वाक्य तथा "वायुर्नावमिवाम्भसि" (गीता. २।६७) "मनसैवेंद्रियग्रामं"

(गीता० ६।२४) 'बुद्धया धृतिगृहीतया" (गीता० ६।२५) इत्यादि स्मृति वाक्य प्रमाण हैं।

परमेश्वर ने इन्द्रिय को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर दिया। इसलिये यह जीव बाह्य विषयों को ही देखता है, अंतरात्मा को नहीं। ऐसे अनेक श्रुतिवाक्य इन्द्रियों की बहिर्मुखता ब्रह्मज्ञान में बाधक है, इस विषय में प्रमाण हैं। वैसे ही स्मृति वाक्य भी प्रमाण हैं। यथा "जल में वायु नौका को जैसे विपरीत दिशा में ले जाती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से जिसके साथ मन जुड़ा होता है, वह इस पुरुष की बुद्धि को हर ले जाती है।" "मन के द्वारा ही इन्द्रियों को सभी ओर से निग्रहीत करके धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि द्वारा धीरे-धीरे संसार से उपरत होवे," इत्यादि अनेक प्रकार से गीता में कहा गया है। अतः इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण जब जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता तब उसे महावाक्य द्वारा उसका बोध कराया जाता है ॥८३॥

जीव की ब्रह्मरूपता में प्रमाण

१ २ ६ ३ ६ ५
इयता हि न देहभृतोस्तिभिदा,
४ ७ १० ८
परमात्म-दृशोरिति वाच्यमिदम्।
१४ १५ १२ १३
स्थितिकाल इहापि च सृष्टिमुखे,
१७ १८ १६ ११
सदनन्यययया श्रुत एष यतः ॥८४॥

जीव ब्रह्म की एकता विषयक प्रमाण न देखने मात्र से ही जीवात्मा और परमात्मा में भेद है। ऐसा आपको नहीं कहना चाहिये क्योंकि सृष्टि, स्थिति और संहारकाल में वेदांत सिद्धाँत में यह जीव सद्रूप ब्रह्म से अभिन्न ही सुना गया है।

यदि आपने जीवात्मा और परमात्मा की एकता को बतलाने वाला प्रमाण नहीं देखा तो इतने मात्र से देहधारी जीव और परमात्म चैतन्य में भेद है, ऐसा आपको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि श्रुति में सर्वत्र सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय काल में ब्रह्म के साथ अभिन्न भाव से ही जीव का श्रवण होता है। इसीलिये "ब्रह्मैवसनब्रह्माप्येति" (बृह० ४।४।६) जीव ब्रह्म स्वरूप होता हुआ ही अध्यास के मिटने पर ब्रह्म में लीन हो जाता है। "विमुक्तश्च विमुच्यते" (क० २।५।१) स्वभाव से मुक्त आत्मा आध्यासिक बन्ध से पुनः मुक्त होता है इत्यादि वेदांत वाक्यों में जीव को सदा ब्रह्मरूप ही कहा गया है। अतः इनमें स्वरूपतः भेद नहीं है ॥८४॥

अभेद उपदेश की सार्थकता में दृष्टांत

द्वयमप्यविरोधि शरीरभृतो,
वचनीयमिदं रघुनन्दनवत्।
उपदेशमपेक्ष्य सदात्ममतिः,
परमात्मसतत्त्वकता च सदा ॥८५॥

पूर्व श्लोकोक्त दोनों ही बात का जीवात्मा में वैसा ही विरोध नहीं है, जैसे दशरथनंदन राम को ईश्वर होते हुये भी पुनः देव और

ऋषियों द्वारा ईश्वरत्त्व का बोध कराया गया था। अतः उपदेश की अपेक्षा कर ब्रह्मरूपता का ज्ञान होता है और जीव सदा परमात्म सद्रूप भी है।

भगवान् राम परमेश्वर थे, फिर भी उन्हें लंका विजय के बाद ऋषि और देवताओं ने परमेश्वरतत्त्व का स्मरण जैसे कराया था। वैसे ही परमात्म स्वरूप होता हुआ भी जीव अध्यास के कारण अपने को देहधारी मान रहा है। अतः उसे वेदांत उपदेश से ब्रह्म का बोध कराया जाता है। अतएव जीव में ब्रह्मरूपता होते हुये भी महावाक्य द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का विरोध नहीं कहना चाहिये ।।८५।।

महावाक्य में ब्रह्म उपासना का खंडन

सदुपासनमस्य[५ २] विधेयतया[६],
वचनस्य[३] मम[४] प्रतिभाति[७] यतः[१] ।
अतएव[८] न[१०] जीवसदात्मकतां[९],
प्रतिबोधयतीत्यवदत्तदसत्[११ १२ १३] ।।८६।।

क्योंकि इस महावाक्य में मुझे प्रतीत होता है कि ब्रह्म की उपासना का विधान किया गया है। अतएव जीव को ब्रह्मरूपता का बोध महावाक्य नहीं कराता है। ऐसा कहना सर्वथा असत् है।

पूर्व पक्षी ने कहा कि मुझे तो "तत्त्वमसि" महावाक्य में सद्रूप ब्रह्म की उपासना का विधान प्रतीत होता है। अतः इसे जीव ब्रह्म की एकता का बोधक नहीं मान सकते ? पर ऐसा कहना ठीक नहीं है ।।८६।।

३ ४ ५ १ ६ २
सदुपास्व इति श्रुतिरत्र न ते,

८ ७ ९ १२ १० ११
तदसित्वमिति श्रुतिरेवमियम् ।

१३ १४ १५ १७ १८
यत एवमतो न विधित्सितता,

१६ १९ २०
सदुपासनकर्मण इत्यमृषा ॥८७॥

क्योंकि 'सद्ब्रह्म की उपासना करो' ऐसा इस वाक्य में विधायक पद तुझे नहीं दीख रहा है। हाँ 'तुम सद् ब्रह्म' हो इस प्रकार की श्रुति तो अवश्य है। अतः सद्रूप ब्रह्म की उपासना कर्म का विधान करना श्रुति को अभीष्ट नहीं है, यह मेरा विचार स्वच्छ सत्य है।

उपासनादि विधान के लिये वाक्य में विधायक पद का होना आवश्यक है। "तत्त्वमसि" महावाक्य में जब विधायक पद ही नही है, तो भला इसे सद्ब्रह्म की उपासना निधान करने वाला कैसे मानते हो? इसके विपरीत 'तुम सद् रूप ब्रह्म हो, ऐसी श्रुति तो स्पष्ट सुनी जा रही है। अतः महावाक्य उपसना का विधान नही करता, यह मेरा सिद्धाँत ही सत्य है ॥८७॥

१ ४ ३ २ ५
यदि तस्य कुतश्चिदिहानयनं,

६ ७ ८
क्रियते तदनर्थकमेव भवेत् ।

१० ११ ९ १२
पुरुषेण कृतस्य यतः श्रुतिता,

१३ १४ १५ १६ १७
न भवेदिति वेदविदां स्मरणम् ॥८८॥

यदि यहाँ पर किसी प्रकार से विधि पद को लाया जाय, तो वह अनर्थक ही होगा क्योंकि पूरुष द्वारा आयोजित पद में श्रुतित्व नहीं हो सकता। ऐसा वेदवेत्ताओं का कहना है।

यदि इस महावाक्य में किसी अन्य वाक्य से विधायक पद की अनुवृत्ति लायी जाय अथवा उसका अध्याहार किया जाय, तो ऐसे पद में एवं पदयुक्त श्रुतिवाक्य में स्वतः प्रामाण्यरूप वेदत्त्व नहीं रह जायेगा। अतः पौरुषेय और अपौरुषेय पदों का संबंध अनुचित होने से महावाक्य को उपासना का विधायक नहीं मान सकते ॥८८॥

२ १ ५ ८
किमरे पुरुषं प्रतिबोधयितुं

६ ७ ९ ३ ४
स्वकमर्थमशक्तमिदं बचनम्।

१० १५ १६ १७
यदतोन्यत आनयनं क्रियते

१४ १२ १३ ११
भवता श्रवणेन विनापि विधेः ॥८९॥

अरे! मन्द बुद्धि! क्या यह महावाक्य अधिकारी को अपने अर्थ के बोध कराने में अशक्त है, जो आप सुने बिना भी विधि पद का आनयन या अध्याहार किसी अन्य स्थल से कर रहे हो?

यदि यह महावाक्य अपने अर्थ बतलाने में कथंचित् असमर्थ होता, तो कदाचित् अन्य स्थल से विधि पद का आनयन या अध्याहार

किया जा सकता था किंतु जब महावाक्य जीव ब्रह्म की एकता के ज्ञान कराने में अत्यंत समर्थ है, तो भला विधायक पद का अध्याहार अनर्थक ही होगा ॥८९॥

अध्याहार पक्ष में दोष

७ ६ ८
श्रुतहानिरिहाश्रुतक्लृप्तिरपि,

३ ४ ५ २ १
श्रुतिवित्समयो न भवेत्तुयतः ।

१० १३
श्रुतिभक्तिमता श्रुतिवक्त्रगतं

१५ १२ १४ ९ ११
ग्रहणीयमतो न तु बुद्धिवशात् ॥९०॥

क्योंकि अध्याहार पक्ष में श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना भी करनी पड़ती है। जो वेदांत तत्त्ववेत्ता का सिद्धांत नहीं है। अतः श्रुतिवाक्य में प्रेम रखने वाले विद्वानों को श्रुतिमुख से निकले हुये अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिये, स्वकपोल कल्पित अर्थ का नहीं।

अध्याहार पक्ष में सबसे बड़ा दोष यह होता है कि जीव ब्रह्म की एकता रूप जो अर्थ महावाक्य में स्पष्ट सुना जा रहा है, उसका त्याग और न सुने हुए अर्थ एवं पद की कल्पना भी करनी पड़ती है। जो श्रुति रहस्य वेत्ताओं को अभीष्ट नहीं। अतः श्रुति के प्रति अनुराग रखने वाले को तो चाहिये, कि जो अर्थ श्रुति मुख से निकल रहा है, उसी का ग्रहण करें अपनी बुद्धि से कल्पित अर्थ का नहीं। अतः महावाक्य उपासना परक नहीं हैं ॥९०॥

अध्यास निवृत्ति से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति

पुरुषस्य[२] शरीरगतात्ममतिं[१],
मृतिसम्भवहेतुम[४]नर्थकरीम्[३] ।
अपनीय[५] सदात्ममतिं[६] दधती[७],
महते[९] पुरुषस्य[८] हिताय[१०] भवेत् ॥९१॥

शरीर में आत्मबुद्धि पुरुष के जन्म मरणादि अनर्थ का कारण है। उसे दूरकर मैं सद्ब्रह्मस्वरूप हूँ ऐसी बुद्धि जब होती है, तब जीव का परम पुरुषार्थरूप महान् हित होता है।

देहादि में आत्मबुद्धि ही जन्म मरणादि संपूर्ण अनर्थों का कारण है। इसे मिटाकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को बतलाने वाली यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि जब होती है तब ही जीव का कल्याण होता है। अतः विधि के बिना ही महावाक्य परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष का साधक है ॥९१॥

महावाक्यार्थ ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति

विनिवर्त्तत[६] एव[२] शरीरगता[४],
विपरीतमतिः[५] पुरुषस्य[३] तदा[१] ।

१२ ८ ६ ७
वचनेन तु तत्त्वमसीति यदा,
१३ ११ १०
प्रतिबोध्यत एष त इत्यपि च ॥६२॥

शरीर में आत्म अध्यास रूप विपरीत बुद्धि पुरुष की तभी निवृत होती है जब 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य तथा वह अंतर्यामी ब्रह्म तुम्हारी आत्मा है इत्यादि वेदांत वाक्यों से उसे ब्रह्मात्मैक्य बोध कराया जाता है।

जब 'तत्त्वमसि' 'एषते आत्माऽन्तर्यामी' इत्यादि आत्मा की एकता का बोध करा दिया जाता है, तभी देह में आत्मबुद्धि रूप भ्रांति उसकी सर्वथा मिटती है, अन्यथा नहीं। अतः इस प्रकार ब्रह्म-बोध के लिये महावाक्य में विधि की आवश्यकता नहीं ॥६२॥

अध्यास निवृत्ति के बिना मोक्ष असंभव

१ ७ ६ ५
यदि नापनयेच्छ्रुतिरात्ममतिं,
२ ३ ४
पुरुषस्य शरीरगतामनृताम्।
८
तदहंमतिहेतुककर्मगतिं,
सुखदुःखफलामवशोऽनुभवेत् ॥६३॥

यदि महावाक्य जीव की शरीर में आत्मबुद्धि रूप भ्रांति को निवृत्त न करे तो देहाभिमान के कारण कर्म और उसके सुख-दुःख रूप फल को परवश हुये जीव अनुभव करेगा ही।

शरीर में अहं बुद्धि भ्रांति है। यदि इस भ्रांति का निवारक महावाक्य को न माना जाय, तो देहात्म अध्यास के कारण ही कर्म एवं देवादि अनेक योनियों की प्राप्ति तथा उन योनि में परवश हुये जीव को सुख-दुःख का भोग करना ही पड़ेगा अर्थात् अध्यास मिटे बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अतः ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान द्वारा अध्यास को मिटाकर मोक्ष दिलाना महावाक्य का ही एकमात्र काम है ॥९३॥

उपासना का फल मोक्ष नहीं है

यदि[१] तत्त्वमसीति[२] वदेद्[४]वचनं[३],

सदुपासनकर्म[५] न[६] तत्त्वमिति[७]।

पुरुषस्य[९] फलं[१०] सदुपासनतो[८],

विमृशामि[१४] भविष्यति[१२] कीदृगिति[१३] ॥९४॥

यदि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य सद्ब्रह्म की उपसना रूप कर्म को ही बतलाता है। जीव ब्रह्म की एकता का बोध नहीं कराता तो फिर पुरुष को सद्उपासना से किस प्रकार का फल प्राप्त होगा। इसका हमें विचार करना पड़ेगा।

पूर्वपक्षी की मान्यता के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य को सद्ब्रह्म की उपासना का ही विधायक माना जाय एवं ब्रह्मात्मैक्य बोधक न माना जाय, तो फिर यह विवश हो विचार करना पड़ेगा कि उपासना से पुरुष को किस प्रकार का फल मिलेगा? अर्थात् पुरुष तो नित्य मोक्ष रूप फल चाहता है। वह कभी भी उपासना से प्राप्त नहीं हो सकता ॥९४॥

२ ५ १ ७
पुरुषस्य तु मर्त्यगुणस्य भवेत्,
३ ४ ६
सदुपासनया न सदात्मकता ।
१४ १३ १५ ८
न कथंचिदपि प्रजहाति यतः,
१२ ११ ९ १०
प्रकृतिं सहजामिह कश्चिदपि ॥९५॥

स्वभाव से जन्म-मरणादि शील जीव को सद्ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मरूपता प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस लोक में कोई भी पदार्थ अपने सहज स्वभाव को किसी प्रकार भी नहीं छोड़ता है। ऐसा देखा गया है ।

जीव स्वभाव से जन्मने मरने वाला है। उसे ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जायेगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कहना असंगत है। क्योंकि अपने स्वाभाविक धर्म को किसी भी प्रकार से कोई भी पदार्थ छोड़ता हुआ लोक में नहीं देखा गया है। जब अग्नि अपने उष्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता है, तो भला जीव अपने जन्म-मरणादि सहज स्वभाव को छोड़कर उपासना से ब्रह्मरूपता कैसे प्राप्त कर सकता है ॥९५॥

१ ३ २ ५
यदि देहभृदेष सदात्मकतां,
६ ७ ४
प्रगमिष्यति वै सदुपासनया

१२ ११ ९ ८ १०
न जहास्यति रूपमसौ हि निजं,

१३ १५ १४
यत ऐक्यमतिर्न भवत्युभयोः ॥९६॥

यदि यह जीव सद्ब्रह्म की उपासना से सद्रूपता को प्राप्त भी कर जाय, फिर भी वह अपने स्वभाव मर्त्यधर्म को तो नहीं छोड़ सकेगा। क्योंकि अत्यंत विरुद्ध धर्मवाले जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान होगा ही नहीं।

स्वभाव से यह मरणधर्मा जीव ब्रह्म की उपासना से कदाचित् सद्रूपता को प्राप्त भी कर जाय, फिर भी वह अपने स्वाभाविक जन्म-मरणादि धर्म को नहीं छोड़ सकेगा। क्योंकि जीव ब्रह्म का स्वभाव अत्यंत विरुद्ध है; ऐसे विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ का ऐक्य बोध पहले तो हो नहीं सकता और यदि होगा भी, तो वह स्थिर रह नहीं सकता। अतः तुम्हारे मत से उपासना से प्राप्त होने वाला मोक्ष अनित्य ही होगा ॥९६॥

पूर्व पक्ष

२ ४ ३
रसविद्धमयः प्रकृतिं सहजां,

५ १ ६
प्रविहाय यथा कनकत्वमियात्।

८ ७ ९
पुरुषोऽपि तथा सदुपासनया,

११ १०
प्रतिपत्स्यत एव सदात्मकताम् ॥९७॥

जैसे पारद आदि रसायन से शोधा हुआ लोहा अपने सहज स्वभाव को छोड़कर सुवर्णता को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही सद्ब्रह्म की उपासना से यह जीव भी अपने जन्म-मरणादि स्वभाव को छोड़-कर सद्रूपता को निःसंदेह प्राप्त कर जायेगा।

जैसे पारद आदि रसायन से शोधे हुये लोहे अपने स्वभाव को छोड़कर स्वर्ण भाव को प्राप्त होते देखे गये हैं। वैसे ही जीव भी ब्रह्म की उपासना से अपने सहज स्वभाव जन्म-मरणादि को सर्वथा छोड़कर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं। अतः ब्रह्म की उपासना से ही ब्रह्म की प्राप्ति संभव है ॥९७॥

सिद्धांत

३ २
अयसोऽवयवानभिभूयरसः,

४ १
स्थितवाननलानुगृहीतिमनु।

६ ७ ५
कनकत्वमतिं जनयत्ययसि,

१२ ९ ११ ८ १०
प्रतिपन्नमयो न तु कांचनताम् ॥९८॥

अग्नि से अनुगृहित होने के बाद पारद आदि रस लोहे के अवयवों को अभिभूत कर जब स्थित हो जाता है, तब वह रस लोहे में स्वर्णता बुद्धि उत्पन्न कर देता है। किंतु वह लोहा वस्तुतः सोना नहीं हो जाता।

अग्नि में तपाने के बाद लोहे के सूक्ष्म अवयवों को पारद आदि रस ढक कर जब स्थित हो जाते हैं, तब वे रस लोहे में स्वर्णत्व बुद्धि

उत्पन्न कर देते हैं। यह बुद्धि वास्तव में भ्रम रूप है। सत्य पूछो तो उस समय भी वह लोहा सोना नहीं हो गया है। क्योंकि कालांतर में पारद आदि रस के सामर्थ्य क्षीण होने पर वह लोहा ही हो जाता है ॥६८॥

२
उदकावयवानभिभूय पयो-
७ ६ १
रजतावयवांश्च यथा कनकम्।
४ ५ ३
विपरीतमतिं जनयत्युदके,
८ १० ९ ११ १२
रजते च तथायसि हेममतिम् ॥६६॥

जैसे जल के अवयवों को आच्छादित कर दूध जल में विपरीत बुद्धि उत्पन्न कर देता है और जैसे चाँदी के अवयवों को ढक कर सोना चाँदी में विपरीत बुद्धि पैदा कर देता है। ठीक वैसे ही लोहा आदि में पारद भी विपरीत बुद्धि पैदा देता है।

जल में डाला हुआ दूध जैसे जलीय अंश को आच्छादित कर उस जल में दुग्ध बुद्धि रूपी भ्रम पैदा कर देता हैं और जैसे चाँदी के ऊपर चढ़ाया हुआ सोने का पानी उस चाँदी में स्वर्ण मुद्धि रूप भ्रम को पैदा कर देता है। वैसे ही पारद आदि रस लोहा आदि में स्वर्ण बुद्धिरूप भ्रम पैदा कर देता है। वस्तुतः वह जल दूध नहीं हो जाता एवं वह चाँदी सोना नहीं हो जाती, वैसे ही लोहा आदि भी वस्तुतः सोना नहीं बन जाते क्योंकि वैज्ञानिक प्रक्रिया से शोधन करने पर वह पुनः लोहा प्रतीत होने लग जाता है। अतः लोहे में स्वर्ण बुद्धि भ्रम ही है ॥६६॥

रसवीर्यविपाकविनाशमनु–
प्रविनश्यति कांचनताप्ययसः ।
कृतकं हि न नित्यमिति प्रगतं,
समवेतमवश्यमपैति यतः ॥१००॥

पारद आदि रस का सामर्थ्य तथा फल विनाश के बाद लोहे की स्वर्णरूपता भी नष्ट हो जाती है। अतः कृत्रिम वस्तु नित्य नहीं होती, क्योंकि अन्य पदार्थ से आया हुआ धर्म अवश्य नष्ट हो जाता है। यह सिद्ध हुआ।

पारद आदि रसों का सामर्थ्य और विपाक कुछ काल तक रहने के बाद जब नष्ट हो जाते हैं। तब लोहे में स्वर्णता भी नष्ट हो जाती है अर्थात् रस के प्रभाव घटते ही वह लोहे के रूप में दीखने लग जाता है। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि कृत्रिम वस्तु नित्य स्थायी नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य के संपर्क से आया हुआ धर्म काल पाकर नष्ट हो जाता ही है। अतः ब्रह्म की उपासना से जीव में आयी हुई कृत्रिम ब्रह्मरूपता सदा नहीं रह सकती यानी वह काल पाकर नष्ट हो जायेगी और इस प्रकार का मोक्ष अनित्य ही होगा।१००।

उपासना प्राप्य मोक्ष में अनित्यता

अमृतत्वमसत्पुरुषाय यदि,
क्रियते सदुपासनया यजिवत् ।

७
यजिकार्यवदन्तवदेव भवेत्,

६ ८ ११ १०
कृतकस्य यतोविदिताऽध्रुवता ॥१०१॥

यदि मरणशील पुरुष में ब्रह्म की उपासना से अमरत्व लाया भी जाय, तो वह यागादि के फल स्वर्गादि के समान नाशवान् ही होगा। क्योंकि कर्म जन्य फल में अनित्यता प्रमाण सिद्ध है।

स्वभाव से मरणधर्मा जीव में यदि ब्रह्म की उपासना से अमरत्व रूप मोक्ष पैदा किया जाय, तो वह यागादि के समान ही होगा अर्थात् यागादि क्रिया का फल जैसे नाशवान् होता है, वैसे ही उपासना जन्य मोक्ष भी अनित्य होगा क्योंकि क्रियाजन्य फल की अनित्यता श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से सिद्ध है। श्रुति "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यचितो लोकः क्षीयते" [छा० ८।१।६] युक्ति—यथा जो कर्म जन्य है, वह अनित्य हैं जैसे घटादि। एवं लोकानुभव भी इसमें प्रमाण हैं ही क्योंकि क्रियाजन्य सस्यादि नष्ट होते हुये देखे गये हैं ॥१०१॥

सायुज्य मोक्ष में अनित्यता

३ ५ ४ २
पुरुषस्य सतश्च विधर्मकयोः,

१ ७ ६
सदुपासनया न भवेत्समितिः।

८ १० ९
यदि संगतिरिष्यत एव तयो-

१२ १३ ११ १४
रवियुक्ततया न चिरं वसतः ॥१०२॥

सद्ब्रह्म की उपासना से परस्पर विरुद्ध धर्म वाले जीव और ब्रह्म में समता नहीं आ सकती है। यदि उनमें समानता आ जावे, तो भी वे चिरकाल तक अभिन्न नहीं रह सकेंगे।

जीव और ब्रह्म परमार्थतः परस्पर विरुद्ध धर्मवाले माने जाये तो सद्ब्रह्म की उपासना से वस्तुतः एकता नहीं आ सकेगी। यदि उनमें समानता आ भी जाये तो वे दोनों बहुत समय तक अभिन्न नहीं रह सकेंगे। किसी समय उनका पुनः वियोग सुनिश्चित है ॥१०२॥

४ ३ १
फलमीदृगिदं सदुपासनतः,

२ ५ ७ ६
पुरुषस्य भविष्यति नान्यदतः।

१३ ९ १२ १४
न च तन्निरवद्यतयाऽभिमतं,

१० ९
विदुषां बहुदोषसमीक्षणतः ॥१०३॥

सद्ब्रह्म की उपसना से जीव को ऐसा ही फल मिलेगा इससे भिन्न प्रकार का नहीं। अनेक दोषों की समीक्षा करने के बाद विद्वानों के मत में वह फल निर्दोष नहीं माना गया है।

पूर्व श्लोक में बतलाये गये प्रकार से यदि सद्ब्रह्म की उपासना से जीव को मोक्ष मिलेगा, तो वह अनित्य ही होगा। नित्य कभी भी नहीं हो सकता। ऐसे क्रियाजन्य फल में अनित्यत्व, जड़त्व आदि अनेक दोषों की समीक्षा करने के बाद विद्वानों ने इसे निर्दोष नहीं माना है ॥१०३॥

महावाक्यार्थ ज्ञान का फल

सदुपासनकर्मविधानपरं,
न भवेदत एव हि तद्वचनम्।
अहमस्मि शरीरमिदं च ममे-
त्यविवेकमतिं विनिवर्त्तयति ॥१०४॥

इसीलिये वह महावाक्य सद्ब्रह्म की उपासना रूप कर्म का विधान नहीं करता है। किंतु यह शरीर मैं हूँ और यह पुत्रादि मेरे हैं इस प्रकार भ्रम बुद्धि को ही तिवृत्त करता है।

"तत्त्वमसि" महावाक्य सद्ब्रह्म की उपासना का विधान सर्वथा नहीं करता है। क्योंकि उपासना का फल अनित्य है, और महावाक्य तो ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान द्वारा मुमुक्षु को नित्य फल प्रदान करता है। वह नित्य फल यही है कि अनात्म शरीरादि में मैंपन और शरीर संबंधित पदार्थों में मेरापन रूप अध्यास को मिटाकर जीव ब्रह्म की एकता का अपरोक्ष ज्ञान करा देवे। जो कि परामार्थ दृष्टि से नित्य सिद्ध हैं ॥१०४॥

जीव ब्रह्म की एकता में श्रुतियों का तात्पर्य

सकलोपनिषत्सुशरीरभृतः
परमात्मपदैकविभक्तितया ।
उपदेशवचांस्यनयैव दिशा,
गमयेन्मतिमानभियुक्ततया ॥१०५॥

सभी श्रुतियों में जीववाचक पद और ब्रह्मवाचक पद में समान विभक्ति होने के कारण वे वाक्य अभेदार्थ को बतलाते हैं। विद्वानों को चाहिये कि इसी युक्ति से अन्य उपदेश वाक्यों का भी प्रमाण पूर्वक अनुगम कर लेवें।

जीवात्मा एवं परमात्मा के वाचक पदों में समान विभक्ति का प्रयोग सभी उपनिषदों में देखा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि इन वाक्यों का तात्पर्य जीव ब्रह्म के अभेद बतलाने में है। अतः विवेकी शास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वानों का यही परम कर्तव्य है कि उक्तरीति से पूर्वोक्त युक्ति एवं प्रमाणों द्वारा अन्य उपनिषद् वाक्यों का भी अद्वितीय ब्रह्म में संगति लगा लेवें। श्रुति गुणवाद, स्तुतिवाद या विपरीतार्थवाद परक नहीं है ॥१०५॥

पूर्वोक्त सिद्धांत में पूर्वाचार्य की सदृष्टांत संमति

द्रविडोऽपि च तत्त्वमसीति वचो,
विनिवर्त्तकमेव निरूपितवान् ।

१
शबरेण विवर्द्धितराजशिशो-

निजजन्मविदुक्तिनिदर्शनतः ॥१०६॥

द्रविड देशीय श्री शंकराचार्य जी ने भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों को अज्ञान निर्वतक ही माना है। उन्होंने शबर जाति से पालन किये गये राजकुमार के उसके जन्म को जानने वाले पुरुषों की कथनरूप दृष्टांत से यही अर्थ सिद्ध किया है।

कोई राजकुमार शबर जाति से पालित होने के कारण अपने के शबर जाति का ही मानता था। जब उसके वास्तविक जन्म वृत्तांत जानने वाले पुरुष ने उसे बोध कराया कि तुम शबर नहीं हो अपितु राजकुमार हो तब उसे अपने राजपुत्रत्व का वोध हो गया और विपरीत बुद्धि मिट गई। ठीक इसी प्रकार अनादि अज्ञान के कारण आत्मा में जीवत्व की भ्रांति हो रही है। "तत्त्वमसि" महावाक्य इसी भ्रांति को ब्रह्मात्मैक्य बोध द्वारा दूर करता है ऐसा आचार्य शंकर ने भी कहा है। अतः महावाक्य अज्ञान निवर्तक तथा ब्रह्म बोधक ही है। उपासना आदि परक नहीं है ॥१०६॥

अनात्माध्यास त्याग पूर्वक ब्रह्मात्मैक्य बोध का उपदेश

१
यत एवमतः स्वशरीरगताम्,

अहमित्यविवेकमतिं सुदृढाम्।

२ ५
प्रविहाय यदक्षरमद्वयकं,

४ ३
त्वमवेहि तदक्षरमात्मतया ॥१०७॥

क्योंकि महावाक्य अज्ञान का नाशक है। अतः अनादि काल से अपने शरीर में 'मैं देह हूँ' इस प्रकार सुदृढ़ हुई आनात्माध्यास रूप अविद्या का परित्याग करके जो अद्वितीय अक्षरतत्त्व है, इसी को तू आत्मरूपसे जान।

पूर्व श्लोकोक्त रीति से यह निश्चित् हो चुका है कि महावाक्य अज्ञान का निवर्तक ही है। फिर तो अनादिकाल से सुदृढ़ हुई शरीर में अहं बुद्धि का सर्वथा परित्यागकर उस अक्षर अविनाशी तत्त्व को ही अपने आत्मस्वरूप से जानो। जिसे वेद ने सजातीय और विजातीय स्वगत भेद शून्य अद्वितीय एवं नित्य कहा है ॥१०७॥

तत् पदार्थ का शोधन

१ ३ २
न मनो न मतिः करणानि च नो,

४ ६ ५ ७
न रजो न तमो न च सत्त्वमपि।

८ १० ९ ११
न मही न जलं न च वह्निरपि,

१२ १४ १३ १५
श्वसनो न नभश्च पदं परमम् ॥१०८॥

सर्वोत्कृष्ट परमात्मपद मन नहीं, बुद्धि नहीं और इन्द्रियाँ भी नहीं है। वह न रजो गुण न तमो गुण और न सत्त्व गुण ही है। ऐसे ही पृथ्वी नहीं, जल नहीं, अग्नि नहीं, वायु तथा अकाश भी वह नहीं।

विशुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा प्रकृति, उसके गुणों एवं भूत-भौतिक संपूर्ण कार्यों से पृथक् ही बतलाया गया है ॥१०८॥

२

अमनस्कमधीकमनिन्द्रियकं,

विरजस्कमसत्त्वतमस्कमपि ।

अमहीजलवन्ह्यनिलाम्बरकं,

परमक्षरमात्मतयाश्रय भोः ॥१०९॥

हे प्रिय ! जो मन रहित, बुद्धि रहित, इन्द्रिय रहित, रजोगुण रहित, सत्त्वगुण एवं तमो गुण से भी शून्य है। ऐसे ही जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा अकाश के संबंध से रहित है। उसी पर नित्य-तत्त्व को तुम आत्मस्वरूप से जानो।

पहले श्लोक में तत् पद लक्ष्य ब्रह्म तत्त्व को मन आदि से विलक्षण बतलाया गया था। इस द्वितीय श्लोक से मन आदि के साथ इनका संबंध नहीं है, यह कहा गया है। तात्पर्य यह कि मन आदि आत्मा नहीं है। क्योंकि मन दृश्य, करण, कार्य विभक्त, जड़, परिच्छिन्न एवं आदि अंत वाला है। आत्मा तो दोनों श्लोक में कहे गये मन आदि का साक्षी, निरवयव, असंग, अहं मम भाव से रहित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव ही है। ऐसा तुम जानो ॥१०९॥

त्वम् पदार्थ के शोधन के लिये जागृत अवस्था का दर्शन

३　　　१　　　४
करणानि हि यद्विषयाभिमुखं,
२　　　５
प्रगमय्यमतिर्विषयेषु चरेत् ।
६　　८　　　७
तदु जागरितं प्रवदन्ति बुधा,
१२ ९ १३ १० १४ १५ ११
न तदस्तिममेत्यवगच्छ दृशेः ।११०॥

जब बुद्धि इन्द्रियों को विषयाभिमुख करके विषयों में विचरती है । बुद्धि की उस अवस्था को ही विद्वान् लोग जागरण कहते हैं । वह जाग्रदवस्था मुझ द्रष्टा में नहीं है, ऐसा समझो ।

श्रोत्रादि इन्द्रियों को विषयाभिमुख करके उन शब्दादि विषयों में जब बुद्धि विचरती है तब बुद्धि की इस अवस्था को जाग्रत् अवस्था विद्वान् लोग कहते हैं । मुझ सर्व साक्षी चैतन्य में वह जाग्रदवस्था नहीं है, ऐसा समझो ॥११०॥

स्वप्न का लक्षण

२　　　१　　３　　४
करणानि यदोपरतानि तदा
विषयानुभवाहित-वासनया ।

विषयेण विना विषयप्रतिमं,

स्फुरणं स्वपनं प्रवदन्ति बुधाः ॥१११॥

जब सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों से उपरत हो जाती हैं। तब शब्दादि विषयों के बिना ही विषयानुभव जनित वासना से विषयाकार मन के स्फुरण को विद्वान् लोग स्वप्न कहते हैं।

ज्ञान, कर्म संपूर्ण इन्द्रियों को शांत हो जाने पर जागृत् के विषयानुभव जनित संस्कार से विषय के बिना ही मन स्पंदन से जब विगत का स्फुरण होता है, तब अंतःकरण की इस अवस्था को विद्वान् लोग स्वप्न कहते हैं। वहाँ निद्रादोष के कारण मन ही संपूर्ण दृश्य का रूप धारण कर लेता है। साक्षी तत्त्व मैं इससे भिन्न हूँ। ऐसा सदा तू समझ ॥१११॥

सुषुप्ति का लक्षण

करणस्य धियः स्फुरणेन विना,

विषयाकृतिकेन तु या स्थितता।

प्रवदन्ति सुषुप्तिममुं हि बुधा,

विनिवृत्ततृषः श्रुतितत्त्वविदः ॥११२॥

बाह्यकरण और बुद्धि की विषयाकार स्फुरण के बिना ही जो स्थिति होती है, उसी को एषणात्रय विमुक्त वेदांत तत्त्वज्ञ विद्वान् सुषुप्ति कहते हैं।

जब बाह्य और आभ्यंतरकरण के सभी व्यापार शांत हो जाते हैं, तब अन्तःकरण की इस अवस्था को लोकेषणादि से मुक्त वेदांत रहस्य को जानने वाले विद्वान् लोग सुषुप्तावस्था कहते हैं ॥११२॥

तुरीय का वर्णन

१ ३
इति जागरितं स्वपनं च धियः,

४ ६ ५ २
क्रमतोऽक्रमतश्च सुषुप्तिरपि।

१० ९ ८ ११ ७
न कदाचिदपि त्रयमस्तिममे-

१५ १२ १४ १३
त्यवगच्छ सदास्यि तुरीयमिति ॥११३॥

यह जागृत स्वप्न और सुषुप्ति बुद्धि की अवस्था है। ये कभी क्रम और कभी क्रम के बिना ही होती रहती है। मुझ चेतन आत्मा में ये तीनों अवस्थायें कभी भी नहीं है। इस प्रकार सदैव मैं तुरीय रूप हूँ, ऐसा तू जान।

कभी-कभी जागृत् के बाद स्वप्न और तत्पश्चात् सुषुप्ति अवस्था आती है। वैसे ही सुषुप्ति के बाद स्वप्न और तदनन्तर जागृत अवस्था आती है। एवं कभी-कभी जागृत से सुषुप्ति अकस्मात् हो जाती है

तथा सुषुप्ति से जागृत भी सहसा होती हुई देखी जाती है। इसलिये इन्हें क्रम और बिना क्रम के भी होना बतलाया गया है। ये तीनों ही बुद्धि की अवस्थायें हैं। मुझ चेतन आत्मा में ये अवस्थायें सर्वथा नहीं हैं। मैं तो तुरीय चैतन्य स्वरूप हूँ। ऐसा साधक को सदा जानना चाहिये ॥११३॥

आत्मा में तुरीयत्व भी सापेक्ष है

[3] यदु जागरितप्रभृति त्रितयं,

परिकल्पितमात्मनि [2] [1] मूढधिया।

[8] अभिधानमिदं [6] [4] तदपेक्ष्य [9] भवेत्

[5] परमात्मपदस्य [7] तुरीयमिति ॥११४॥

अज्ञानी पुरुष ने निर्विशेष प्रत्यगात्मा में जिन जागरण आदि तीन अवस्थाओं की कल्पना की है उनकी अपेक्षा से ही विशुद्ध परमात्म स्वरूप का "तुरीय" यह नाम पड़ गया है।

रज्जु में सर्प की भ्रांति प्रत्यगात्मा में अज्ञानी से कल्पित जाग्रत् आदि अवस्थाओं के कारण ही विशुद्ध चैतन्य परमात्मा को तुरीय पद से कहते हैं। वास्तव में जब तीनों अवस्थायें कल्पित हैं, तो आत्मा का यह तुरीय नाम भी कल्पित ही है। निर्विशेष आत्मा का परमार्थ दृष्टि से कोई नाम रूप नहीं है ॥११४॥

अवस्थात्रय में मिथ्यात्व वर्णन

१ ६ ५ ३
यदपेक्ष्य भवेदभिधानमिदं,

२ ४
परमात्मपदस्य तुरीयमिति ।

७ ९ ८ १०
तदसत्यमसत्यगुणश्च ततः,
परिनिर्मितवारणचेष्टितवत् ॥११५॥

जिन तीन अवस्थाओं की अपेक्षाकर परमात्म स्वरूप का तुरीय यह नाम पड़ गया। वे तीनों अवस्थायें मिथ्या हैं। क्योंकि कल्पित अंतःकरण के ही ये धर्म हैं। अतः शिला में कल्पित हाथी को चेष्टा के समान ये अवस्थायें मिथ्या हैं।

मतवाले हाथियों से व्याप्त प्रदेश में घूमने वाले किसी डरपोक व्यक्ति को पाषाण में जैसे हाथी के हस्त पादादि संपूर्ण चेष्टाओं की कल्पना होने लग जाती है। ठीक ऐसे ही परमात्मा में जाग्रत् आदि तीनों अवस्थायें कल्पित हैं। अतएव कल्पित हाथी की चेष्टा के समान मिथ्या अवस्थात्रय की अपेक्षा से परमात्मा का तुरीयनाम भी मिथ्या है ॥११५॥

जगत् में मिथ्यात्व का निरूपण

१
गगनप्रमुखं पृथिवीचरमं,
विषयेन्द्रिय बुद्धि मनः सहितम् ।

२ ४ ३ ५
जनिमज्जगदेतदभूतमिति,

७ ६
श्रुतयः प्रवदन्त्युपमानशतैः ॥११६॥

आकाश से लेकर पृथ्वी तक पञ्चभूत, विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन के सहित जायमान यह संपूर्ण जगत् मिथ्या है। इसे सैकड़ों दृष्टांतों से श्रुतियाँ कहती हैं।

कार्य जगत् मिथ्या है, इस विषय में एक दो नहीं किंतु सैकड़ों दृष्टांत श्रुतियों में भरे पड़े हैं और मिथ्या से सत्य वस्तु की वैसे ही कोई हानि नहीं जैसे कल्पित मरु जल से मरु स्थल गीला नहीं होता ॥११६॥

५
कफपित्तसमीरणधातुधृतं,

३ २ ४ १
कुशरीरमिदं सततं हि यथा।

८
प्रभवप्रभृति प्रलयांतमिदं,

७ ६
जगदग्निरवीन्दुधृतं हि तथा ॥११७॥

जैसे यह निंदित शरीर कफ, पित्त और वात रूप धातु से सदा ही धारण किया हुआ है, वैसे ही उत्पत्ति से लेकर प्रलय पर्यन्त यह संपूर्ण जगत् अग्नि, सूर्य और चन्द्र से धारण किया हुआ है।

शुक्र-शोणित से निर्मित यह शरीर निंदनीय है । यह सदा कफ पित्त तथा वात रूप धातु के समता से स्वस्थ और विषमता से अस्वस्थ हुआ करता है । अतः उक्त तीनों धातुओं से ही यह शरीर स्थित है । ठीक वैसे ही उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक संपूर्ण जगत् सूर्यादि ज्योतियों के कारण ही टिका हुआ है । इनकी समता से समष्टि जगत् में स्वस्थता और विषमता से अस्वस्थता हुआ करती है । अतः इन्हीं के ऊपर यह जगत् टिका हुआ है ॥११७॥

जगतः[३] स्थितिकारणमित्थमिदं[१],
प्रथितं[४] रविवह्निशशित्रितयम्[२]
स्मृतिवेदजनेषु[५] भृशं प्रथितं,
श्रुतिरीरितवत्[६]यनृतं[७] तदिति[९][८] ॥११८॥

इसी प्रकार जगत् की स्थिति के कारण सूर्य, अग्नि और चन्द्र तीनों ही श्रुति आदि में प्रसिद्ध हैं फिर भी परमार्थ दृष्टि से श्रुति, स्मृति तथा इनके रहस्यवेत्ता विद्वानों में यह अत्यंत प्रसिद्ध है कि यह जगत् मिथ्या है, ऐसा श्रुति ने कहा है ।

'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' [बृ० ३।८।९] हे गार्गि ! यह अक्षर ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र आदि की स्थिति है ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ [गीता १५।१४]

मैं ही प्राणियों के देह में जाठराग्नि बनकर प्राणापान से संयुक्त हो भोज्य, भक्ष्य, लेह्य तथा चोष्य ऐसे चतुर्विध अन्न को पचाता हूँ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ गीता० १५।१२

जो सूर्य का तेज सारे संसार को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है उसे मेरा ही तेज समझो। इन श्रुति, स्मृति वाक्यों से जगत् स्थिति के कारण सूर्य, अग्नि और चन्द्र बतलाये गये हैं, यह प्रसिद्ध है किंतु सर्वत्र परमेश्वर का तेज व्याप्त होने के कारण इनका अधिष्ठान परमेश्वर ही एकमात्र पारमार्थिक है और उसी अधिष्ठान में यह जगत् कल्पित है। यह बात भी उक्त श्रुतियों से ही सिद्ध हो जाती है। अतः श्रुति, स्मृति एवं वेदवित् पुरुषों में जगत् का मिथ्यात्व अत्यंत प्रसिद्ध है॥११८॥

सूर्यादिक मिथ्यात्व में श्रुति प्रमाण

यदु[२] रोहितशुक्ल[४]सुकृष्णमिदं[३],
ज्वलनादिषु[१] रूपमवैति[५] जनः[६],
तदु[८] तैजसमाप्यमथान्नमिति,
ब्रुवती त्रयमेव तु सत्यमिति॥११९॥

अग्नि, सूर्य आदि में जो यह लाल, श्वेत और काला रूप लोक जानते हैं, वह अग्नि, जल और पृथ्वी का है। इस प्रकार कहने वाली श्रुति केवल तीनों रूपों को ही सत्य बतला रही है।

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' [छा० ६।४।१] जो अग्नि में लाल रूप है, वह तेज का है। जो शुक्ल रूप है, वह जल का है और जो कृष्ण रूप है वह पृथ्वी का है। इस प्रकार अग्नि में रोहित आदि तीन रूप ही सत्य हैं और अग्नि मिथ्या है। ऐसे ही संपूर्ण जगत् में व्याप्त शुक्लादि रूप सत्य हैं और जगत् मिथ्या है। इन दृष्टांतों द्वारा श्रुति ने यही सिद्ध किया है कि कार्य मिथ्या है और कारण सत्य है। अतः संपूर्ण विश्व के अधिष्ठान में कल्पित जगत् तो सर्वथा मिथ्या ही है ॥११९॥

कार्य के मिथ्यात्व में दृष्टांत

रुचकप्रमुखं[२] कनकादिमयं[१],
रुचकाद्यभिधाननिमित्तमपि[३]।
असदित्यवगम्यत[४,६] एव[५] यतो[७],
व्यभिचारवती[९] रुचकादिमतिः[८] ॥१२०॥

स्वर्ण कार्य रुचक आदि वस्तुतः सुवर्णस्वरूप ही होते हैं। वह स्वर्ण ही रुचक आदि नामों का निमित्त भी हैं। अतः रुचक आदि असत् ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सुवर्ण के अन्य आभूषणों में रुचक आदि बुद्धि व्यभिचार वाली देखी जाती है।

सुवर्ण के बने हुए कंकण आदि वस्तुतः स्वर्ण ही है क्योंकि सुवर्ण के अभाव में उनके नाम रूप देखने में नहीं आते। अतः कंकणादि नाम का निमित्त भी सुवर्ण ही तो है। इसलिये कंकणादि

आभूषण मिथ्या हैं क्योंकि अन्य आभूषणों में अन्य आभूषणों के नाम रूप का व्यभिचार देखा जाता है। कंकण में कुण्डल बुद्धि नहीं होती और कुंडल में कंकण बुद्धि नहीं होती। अतः इनके नाम रूप का परस्पर में अभाव देखा जाता है किंतु सुवर्ण बुद्धि दोनों में अनुस्यूत है। इसलिये सुवर्ण सत्य है और कंकण आदि कल्पित मिथ्या हैं ॥१२०॥

कारण में सत्यत्व का निरूपण

न[५] कदाचिदपि[४] व्यभिचारवती,

कनकादिमतिः[३] पुरुषस्य[२] यतः[१]।

तत[६] एव हि सत्यतया[८] अभिमतं[७],

कनकादि[१०] विपर्यय[९] एषु[११] न हि ॥१२१॥

क्योंकि विवेकशील पुरुष की सुवर्णादि बुद्धि व्यभिचरित कभी नहीं होती। अतएव सुवर्ण आदि सत्य माने गये हैं। क्योंकि कनक आदि आभूषणों में स्वर्ण आदि बुद्धि का विपर्यय नहीं होता।

सभी आभूषणों में यह सोना है, ऐसी बुद्धि विवेकी की सदा होती रहती है। इसमें विपर्यय कभी भी होता नहीं। इसलिये यही कहना सत्य होगा कि कंकण आदि नाम रूप मिथ्या हैं और सुवर्ण एकमात्र (कारण ही) सत्य है ॥१२१॥

रुचकादिसमं[३] ज्वलनादि[२] भवेत्[४]
अनृतत्व[१]गुणेन तु[५] सत्यतया[७]।
अरुणःप्रमुखं[६] ज्वलनप्रभृति-
प्रकृतित्रितयं कनकादिसमम्[८] ॥१२२॥

मिथ्यात्व गुणों के साथ समानता होने के कारण अग्नि, सूर्यादि कंकणादि के समान हैं किंतु लोहित आदि, अग्नि आदि के तीनों ही कारण सत्य होने से सुवर्णादि के समान है।

कार्य में मिथ्यात्व और कारण में सत्यत्व दृष्टांत तथा दार्ष्टान्त में समान ही है क्योंकि जैसे कंकण आदि कार्य मिथ्या हैं, वैसे ही सूर्यादि भी मिथ्या हैं एवं जैसे सुवर्ण आदि कारण सत्य हैं, वैसे ही लोहित आदि गुण भी सत्य हैं। अतः कार्य में मिथ्यात्व और कारण में सत्यत्व दोनों ही स्थल में समान है ॥१२२॥

अनयोपमया[१]नृततामवद[३]-
च्छ्रुति[२]रग्निदिवाकरचन्द्रमसाम्।

अमृषात्वमपि श्रुतिरुक्तवती-

त्रितयस्य तु रक्तपुरस्सरिणः ॥१२३॥

इसी दृष्टांत से श्रुति ने अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रमा में मिथ्यात्व कहा है। साथ ही इनके कारण लोहितादि तीनों में श्रुति ने सत्यत्व भी कहा है।

अग्नि में लालरूप तेज का है, श्वेतरूप जल का है और कृष्ण रूप पृथ्वी का है। यदि इन तीनों को हटा लिया जाय, तो अग्नि का अग्नित्व समाप्त हो जाता है। वैसे ही सूर्यादि संपूर्ण कार्यों में से कारण को हटा लेने पर कार्य उसी प्रकार मिथ्या हो जाते हैं। अतः कारण सत्य है और कार्य मिथ्या है यह दृष्टांत और दार्ष्टान्त में समान है ॥१२३॥

श्रौत दृष्टांत से जगत्मिथ्यात्व का वर्णन

अनृतत्वमिदं ज्वलनप्रभृते-

र्यदवादि भवेत्तदुदाहरणम्।

वितथाविकृतिः सततं सकला

न तथा प्रकृतिः श्रुतिनिश्चयतः ॥१२४॥

यह जो अग्नि आदि में मिथ्यात्व कहा गया है, वह कंकणादि समस्त विकार में मिथ्यात्व का निश्चय वेदांत से हो जाता है। साथ

ही कारण में सत्यत्व का निश्चय भी हो जाता है। अतः श्रुति प्रमाण एवं पूर्वोक्त दृष्टांत से कार्य में मिथ्यात्व और कारण में सत्यत्व ही निश्चित् होता है ॥१२४॥

उक्त विषय में लौकिक दृष्टांत

४ २ १

प्रदिदर्शयिषुर्वसनस्य यथा–

३ ६ ५

वितथात्वमपास्यति तन्तुगुणम् ।

११ ८ १०

अपकृष्य तु तन्तुसमं त्रितयं

९ ७ १२

ज्वलनप्रमुखस्य तथोक्तवती ॥१२५॥

जैसे वस्त्र में मिथ्यात्व निश्चय कराने की इच्छावाला पुरुष तंतु को सत्य और वस्त्र को मिथ्या कहता है, वैसे ही तंतु के समान लोहित आदि में सत्यत्व बुद्धि एवं अग्नि आदि में मिथ्यात्व बुद्धि श्रुति ने कराई है।

तंतु के कार्य वस्त्रादि में मित्थात्व निश्चय कराने की इच्छावाला पुरुष जैसे कहता है कि तंतुरूप कारण सत्य है, एवं वस्त्रादि कार्य मिथ्या हैं। ठीक वैसे ही तंतु के समान लोहित आदि कारण को सत्य और अग्नि आदि कार्य को मिथ्या श्रुति ने कहा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कारण सत्य है और कार्य मिथ्या है ॥१२५॥

अवनिप्रमुखं वियदन्तमिदं,
विकृतिस्तु परस्यभवत्यपरम् ।
अनृतत्वपरं विकृतिस्तु यतोऽ–
वितथं तु परं प्रकृस्तिु यतः ॥१२६॥

पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त यह जगत् परमात्मा का विवर्त रूप कार्य है। अतः ब्रह्म का यह अपर रूप मिथ्या है, क्योंकि विकार होने से अपर रूप मिथ्या होता ही है किंतु कारण होने से ब्रह्म का पर रूप सत्य है।

ब्रह्म के पर और अपर दो रूप हैं। इनमें से पृथ्वी आदि भूत-भौतिक नामरूप संपूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त होने से अपर रूप है और यह मिथ्या है किंतु सर्वाधिष्ठान सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म सत्य है ॥१२६॥

पूर्वोक्त अर्थ का उपसंहार

अत एतदसेधि सदुक्ति परं,
न मृषेति मृषा तु ततोन्यदिति ।

इति सिद्धमतो यदवादिमया,

जनिमज्जगदेतदभूतमिति ॥१२७॥

इस पूर्वोक्त नियमानुसार यही सिद्ध हुआ कि सद् या ब्रह्म नाम से कहा गया परतत्व मिथ्या नहीं है किंतु उससे भिन्न जगत् नाम से कहा जाने वाला नामरूप मिथ्या है। इस प्रकार जो मैंने पहले कहा था कि उत्पन्न होने वाला यह संपूर्ण जगत् असत् है, यही बात यहाँ तक सिद्ध की गई है।

कारण सत्य एवं कार्य मिथ्या होता है। यह पूर्वोक्त ग्रंथ से नियम बन गया। सद् ब्रह्म नाम से कहा गया जगत् कारण सत्य है और कारण से भिन्न नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है। यह मैंने जो पहले कहा था, वही बात यहाँ तक सत्य सिद्ध की गयी है ॥१२७॥

पूर्वोक्त हेतुओं से मन भी मिथ्या सिद्ध होता है

मनसोऽप्यनृतत्वमसंध्यमुतः,

प्रतिपादितहेतुत एव भवेत्।

चरितं च तदीयमसत्यमतः,

परिनिर्मितवारणचेष्टितवत् ॥१२८॥

पूर्वोक्त हेतु से मन में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और इसी से मन के व्यापार जाग्रत आदि अवस्थायें चित्र में बने हाथी की चेष्टा के समान मिथ्या ही सिद्ध होती हैं।

कारण सत्य और कार्य मिथ्या यह नियम पहले बन चुका है। इसी नियम के अनुसार मन और मन के जाग्रत आदि संपूर्ण व्यापार वैसे ही मिथ्या हैं, जैसे चित्र में बने हाथी और उसके पाद आदि की चेष्टायें केवल कल्पना मात्र होने से असत्य हैं ॥१२८॥

मन में मिथ्यात्व कथन पर शंका

१ ६ २ ५
ननु नाभ्यवदच्छ्रुतिरुद्भवनं,

४ १० ३ ८ ७ ९
मनसस्तु सतो न च खप्रमुखात्।

१४ ११ १५ १३
कथमस्य भवेदनृतत्वगति-

१२ १० १७ १६
र्मनसो भगवन्वद निश्चयतः ॥१२९॥

शिष्यः—हे गुरुदेव ! श्रुति ने सद्ब्रह्म से मन की उत्पत्ति नहीं कही है और न आकाशादि से उसकी उत्पत्ति बतलाई है, फिर भला इस मन में मिथ्यात्व का ज्ञान कैसे होवे। इसे आप निश्चय करके कहें।

हे षडैश्वर से युक्त गुरो ! जब श्रुति ने मन की उत्पत्ति न सद्ब्रह्म से कही और न आकाशादि से ही कही है फिर ऐसे अजन्मा मन के मिथ्या होने का निश्चय कैसे किया जाय ? क्योंकि छांदोग्य श्रुति

में तेज आदि की उत्पत्ति कही है और तैत्तिरीय में आकाश आदि की उत्पत्ति कही है किंतु मन की उत्पत्ति कहीं भी नहीं बतलायी गई है, फिर भला अजन्मा मन में पूर्वोक्त युक्ति से मिथ्यात्व का निश्चय कैसे किया जाय ? ॥१२९॥

मन के मिथ्या होने में श्रुति प्रमाण

१ ६
ननु सप्तम आत्मन उद्भवनं,
४ ७ २ ५ ३
मनसोऽभिदधावसुनापि सह ।
१० ८ १२ ११
कथमस्य भवेदमृषात्वगति-
९ १३
र्मनसोविकृतित्वगुणस्य वद ॥१३०॥

आचार्यः—तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छान्दोग्य सप्तमाध्याय में आत्मा से प्राण आदि के साथ मन की भी उत्पत्ति कही गई है । अतः कार्यत्व रूप गुण से युक्त इस मन में सत्यत्व का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है । इसे तू ही बतला ।

'आत्मतो मनः' [छा० ७।२६।१] आत्मा से मन आदि उत्पन्न हुये, इस श्रुति में प्राण आदि के सहित मन की भी उत्पत्ति बतलायी गई फिर भला ऐसे मन में सत्यत्व का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है क्योंकि उत्पन्न होने वाला पदार्थ मिथ्या होता है, इसे पूर्वोक्त युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं । इसीलिये परमात्मा का कार्य होने से मन भी मिथ्या है । ऐसा तू निश्चय कर ॥१३०॥

[3]असुनाकरणैर्गगनप्रमुखैः,

सह[2] मुण्डक[5] उद्भवनं[4] मनसः।

[6]पुरुषात्परमात्मन उक्तमतो,

वितथं[8] मन[7] इत्यवधारय[9] भोः[1] ॥१३१॥

हे शिष्य ! :—मुण्डकोपनिषद् में प्राण, बाह्याभ्यंतर करण तथा आकाश आदि भूतों के सहित मन की उत्पत्ति परमात्मा से बतलायी गयी है। अतः मन मिथ्या है, ऐसे तू निश्चय कर।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खंवायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी' [मुण्ड० २।१।३] इस परब्रह्म से प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस श्रुति वाक्य में प्राण आदि के साथ मन की उत्पत्ति भी ब्रह्म से होती है, ऐसा कहा गया है। अतः जायमान मन मिथ्या है, ऐसा ही निश्चय तुझे करना चाहिये ॥१३१॥

[3]मनसोऽन्नमयत्वमवादि यतः[2],

[4]ततएव हि भूतमयत्वगतिः

६   ५   ८
कुशरीरवदेव ततोपि भृशं,

७   ६   १
वितथं मन इत्यवधारय भोः ॥१३२॥

हे शिष्य :—क्योंकि श्रुति में मन को अन्नमय कहा गया है। इससे उसकी भौतिकता तो सिद्ध ही है। अतः निंदित स्थूल देह के समान मन भी अत्यंत मिथ्या है, ऐसा निश्चय कर।

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः' [छा० ६।५।१] खाये हुये अन्न के तीन भाग हो जाते हैं, उसका जो स्थूल भाग है, वह मल हो जाता है। जो मध्य भाग है वह मांस और जो सूक्ष्म भाग है, वह मन हो जाता है। 'अन्नमयं हि सोम्यमनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् [छा०६।५।४] अतः हे सोम्य! अन्न का कार्य मन है। जल का कार्य प्राण है और तेज का कार्य वाणी है। इसे श्रुति में मन को अन्न का कार्य स्पष्ट रूप से कहा है। अतः हे शिष्य! भौतिक होने से स्थूल देह के समान ही मन भी अत्यंत असत् है, ऐसा ही तुझे निश्चय करना चाहिये ॥१३२॥

मन के मिथ्यात्व में अनुमान प्रमाण

३   २   १
कुरु पक्षमिमं गगनप्रमुखं,

४
जनिमत्सकलं नहि सत्यमिति।

७ ९ ८ १० ६ ११ ५
प्रथमं चरमं च न चास्ति यतो,

१३ १२ १४
रुचकादिवदित्युपमांच वद ॥१२३॥

इस समस्त उत्पत्तिशील आकाशादि को पक्ष बनाओ। मिथ्यात्व को साध्य, आद्यन्तवत्त्व को हेतु और सुवर्ण के कंकणादि को दृष्टांत बनाओ। बस इसी अनुमान से मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा।

उत्पन्न होने वाले यह समस्त भूतभौतिक पदार्थ सत्य नहीं हैं क्योंकि इनका आदि और अंत में अभाव है, जैसे आभूषण बनने से पहले और नाश के पीछे भी सुवर्ण के कंकणादि का अभाव है। अतः वह मिथ्या है, ठीक वैसे ही उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पीछे इस उत्पन्न होने वाले संपूर्ण जगत् का अभाव है। अतः यह भी सत्य नहीं है। इस प्रकार इन हेतुओं से उत्पत्तिशील आकाशादि में मिथ्यात्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो जाती है ॥१३३॥

उदाहरणादि अवयव त्रय से मिथ्यात्व का प्रदर्शन

१ ३ २ ४
कनके रुचकादि न पूर्वमभूत्,

६ ५ ७
चरमं च न विद्यत इत्यनृतम्।

९ ८
अधुनापि तथैव समस्तमिदं,

११ १०
जनिमद्वियदादि भवेदनृतम् ॥१३४॥

सुवर्ण में कंकरणादि पहले नहीं थे और अंत में भी नहीं रहते। अतः वे मिथ्या हैं। वैसे ही उत्पन्न होने वाले आकाशादि का अंत में अभाव होने के कारण वर्तमान में भी ये असत् ही हैं।

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा" [मा० का० २।६] इस न्याय से सुवर्ण में आदि और अंत में अभाव होने के कारण जैसे वर्तमान में कंकणादि असत् हैं, वैसे ही आकाशादि संपूर्ण जगत् आदि अंत में अभाव होने के कारण वर्तमान में भी मिथ्या ही है। इस प्रकार उदाहरण, उपनय और निगमन रूप तीन अवयवों से भी प्रपंच में मिथ्यात्व सिद्ध किया गया ॥१३४॥

कार्य-कारण भेदवादी वैशेषिक पक्ष में दोष

कनकादिषु यद्युपजातमभू-
द्रुचकप्रमुखं पृथगेव ततः।
अधिकं परिमाणममीषु कुतो,
न भवेदिति वाच्यमवश्यमिदम् ॥१३५॥

यदि कनक आदि में उत्पन्न हुआ कंकणादि उससे पृथक् ही है तो सुवर्ण की अपेक्षा कंकणादि में अधिक परिमाण क्यों नहीं हो जाता ? यह आपको बतलाना चाहिये।

वैशेषिकों ने सुवर्ण से उत्पन्न कंकणादि को सर्वथा भिन्न माना है। यदि यह बात सत्य है तो सुवर्ण की अपेक्षा कंकणादि का परिमाण

यानी गुरुत्व अधिक क्यों नहीं हो जाता ? इसका कारण वैशेषिकों को बतलाना पड़ेगा। अन्यथा उनका कार्य-कारण भेद पक्ष युक्ति-विरुद्ध सिद्ध होगा ॥१३५॥

कार्य-कारण अभेद में अन्य युक्ति भी है

कनकप्रभृतेर्व्यतिरिक्तमतो,
रुचकादि न विद्यत एव कुतः।
पृथगग्रहणात् कनकप्रभृते-
रिति कारणमेव सदन्यदसत् ॥१३६॥

क्योंकि सुवर्ण आदि कारण से कंकणादि कार्य भिन्न हैं ही नहीं। इसीलिये तो सुवर्ण आदि से पृथक् कंकणादि का ग्रहण होता ही नहीं। अतः यही मानना उचित है कि कारण सत्य है और कार्य मिथ्या है।

गौ और अश्व की भांति कनक एवं कंकणादि को सर्वथा पृथक् माना जाय, तो गौ के अभाव में अश्व का और अश्व के अभाव में गौ का जैसे ग्रहण होता है, वैसे ही सुवर्ण के अभाव में भी कंकणादि का ग्रहण होना चाहिये। किंतु होता नहीं है। अतः कार्य कारण का अभेद पक्ष ही सत्य है। भेद पक्ष युक्ति विरुद्ध है ॥१३६॥

कार्य-कारणाभेद पक्ष में पूर्वपक्षी की शंका

१ ६ २ ४
ननु नाम पृथग्विकृतेः प्रकृते–
३ ५ ८ ७
रथ रूपमथापि च कार्यमतः ।
१० ९ ११
कथमव्यतिरिक्ततयावगमः,
१२ १४ १३
प्रकृतेर्विकृतेरिति वाच्यमिदम् ॥१३७॥

कार्य और कारण के नाम एवं रूप भिन्न ही हैं । अतः कार्य कारण को अभिन्न रूप से कोई कैसे समझ सकता है । इस कारण कार्य विषय में समाधान आप देवें ।

मिट्टी और घट ऐसा नाम तथा इनका रूप एवं व्यापार जब पृथक्-पृथक् स्पष्ट दीखते हैं, तो यह मानना ही उचित होगा कि कारण से कार्य भिन्न ही है । फिर भला इन दोनों को अभिन्न रूप से आप कैसे समझ रहे हो, इसका समाधान आपको देना पड़ेगा ॥१३७॥

उक्त अनुमान में प्रत्यक्ष बाध दोष

१ ३
इह वीरणतन्तुसुवर्णमृदः,
कटशाटकहारघटाकृतयः ।
२ ४
उपलब्धजनैरुपलब्धमतो,
७ ६ ८ ५
न भिदास्ति ततः प्रकृतेर्विकृतेः ॥१३८॥

इस संसार में व्यावहारिक पुरुषों ने तिनका, धागा, सोना और मिट्टी के ही क्रमशः चटाई, वस्त्र, हार तथा घट आकर देखे हैं। अतः कार्य-कारण में वस्तुतः भेद नहीं है।

इस व्यावहारिक जगत् में प्रत्यक्ष व्यवहार करने वाले पुरुष तिनका आदि कारणों में ही चटाई आदि कार्यों की आकृति देखते हैं। कारण के अभाव में कार्य की उपलब्धि कहीं भी नहीं होती। क्योंकि वस्त्र से धागे को अलग कर देने पर वस्त्र नामक पदार्थ ही नहीं रह जाता है। अतः कार्य-कारण में भेद सर्वथा नहीं है ॥१३८॥

३ १ ५ ४ २
विकृतिर्यदि नास्ति पृथक् प्रकृते-
९ ८ ७ ६
र्न घटेतभिदाप्यभिधाप्रभृतेः।
१० १२ ११ १३
इति धीर्विफला तव येनजनै-
र्विविदेनयनेन मृदाद्यभिदा ॥१३९॥

यदि कारण से कार्य पृथक् नहीं है, तो नाम रूपादि के कारण भी उनका भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अतः तुम्हारी भेद बुद्धि निष्फल है, जिससे कि तुम लोगों के साथ विवाद करते हो। क्योंकि नेत्र से तो मिट्टी और घटका यानी कारण-कार्य का अभेद ही सिद्ध होता है।

यदि वस्तुतः कार्य-कारण में भेद होता हो, तो नाम रूप आदि के कारण से भेद सिद्ध हो सकता था। अतः अभिन्न होते हुये भी कार्य-कारण में जो तुम्हें भेद दीखता है, वह भ्रम मात्र है, क्योंकि नेत्र से भी मृत्तिका घट है, ऐसा दोनों में अभेद दीखता है, भेद नहीं। अतः पूर्वोक्त तुम्हारा अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है ॥१३९॥

भेद साधक अनुमान में दोष

ननु रूपमथो अपि कार्यमथो,
अभिधापि नटस्य पृथग्विदिता।
न पृथक्त्वमुपैति नटः किमिति,
प्रतिवाच्यमवश्यमिदं कुशलैः ॥१४०॥

यद्यपि नट का स्वरूप, कार्य और नाम अभिनय काल में पृथक्-पृथक् विदित होते हैं फिर भी वह अभिनय करने वाला नट पृथकत्व को प्राप्त नहीं होता। ऐसा क्यों होता है? उसका उत्तर कुशल तार्किकों को अवश्य देना होगा।

यद्यपि अभिनय करते समय एक ही नट कभी राजा कभी नौकर और कभी मंत्री का रूप बनाकर पृथक्-पृथक् नाम से पृथक्-पृथक् काम करता हुआ दीखता है। फिर भी वह अभिनेता नट एक रूप ही रहता है, भिन्न-भिन्न नहीं होता। इसका कारण क्या है? इसका उत्तर आप तार्किकों कों ढूँढ़ना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि नाम-रूप के भेद होने पर भी जैसे नट में भेद नहीं होता, ऐसे ही कार्य और कारण के नाम-रूप तथा व्यापार में भेद होने पर भी वस्तुतः भेद, विवेकियों को मान्य नहीं है ॥१४०॥

कार्य-कारण भाव काल्पनिक है

असतो न कथञ्चन जन्म भवेत्,
तदसत्वत एव खपुष्पमिव।

न सतोस्ति भवः पुरतोपिभवात्,

यत आत्मवदेव सदिष्टमिति ॥१४१॥

किसी भी प्रकार से असत् का जन्म नहीं होता, क्योंकि वह आकाश कुसुम के समान अत्यंत असत् है और न सत् का ही जन्म होता है, क्योंकि वह नित्य आत्मा के समान उत्पत्ति से पूर्व भी सद्रूप से अभीष्ट है।

वैशेषिक असत् की उत्पत्ति मानते हैं। यह उनका भ्रम-मात्र है, क्योंकि आकाश कुसुम के समान अत्यंत असत् पदार्थ का जन्म किसी प्रकार से संभव नहीं है। वैसे ही साख्यों ने सत् का ही जन्म माना है। पर यह भी असंभव है, क्योंकि जो नित्य आत्मा के समान सदा विद्यमान है उसका भला जन्म ही क्या हो सकता है। सांख्य सत् तत्त्व को सदा विद्यमान मानता है। ऐसे विद्यमान पदार्थ का जन्म मानना भी भ्रम ही है। अतः सत् कार्यवाद और असत् कार्य-वाद दोनों ही पक्ष दुष्ट हैं ॥१४१॥

सत् कार्यवाद उत्थापन की प्रतिज्ञा

कपिलासुरिपञ्चशिखादिमतं,

परिगृह्य वदेद्यदि कश्चिदिदम्।

न कदाचन जन्म वदामि सतः,

प्रवदामि तु यच्छृणु तत्त्वमपि ॥१४२॥

सांख्याचार्य कपिल आसुरि तथा पंचशिख आदि के मत को मानकर यदि कोई कहे तो भी मैं सत् का जन्म कभी भी नहीं कहूँगा, पर जिसे मैं कहूँगा उसे तू सावधान होकर सुन।

सांख्य शास्त्र के आदि आचार्य कपिल से लेकर अद्यावधि जितने सत् कार्य वादियों के पक्ष हैं, यदि उनमें से किसी भी पक्ष को स्वीकार कर कोई कहे तो भी मैं सत् का जन्म नहीं मान सकता, किंतु जिसे मैं बतलाऊँगा उसे तू सावधान होकर सुन ॥१४२॥

२ १ ३
प्रकृतावशिष्टतया यदभू-

दधुना तु तदेव विशेषयुतम्।

६ ५ ७ ४
निरवद्यमिदं प्रतिभाति मम,

१० ९ ८
प्रवदात्र विरोधमवैषि यदि ॥१४३॥

जो अवशिष्ट रूप से कारण में था वही अभी उत्पत्ति के समय सविशेष कार्य रूप से प्रकट हुआ है। मेरा यह मत निर्दुष्ट प्रतीत होता है। फिर भी यदि तू इस मत में विरोध जानता हो तो बतला।

कारण में कार्य बीजरूप से विद्यमान था। वही उत्पत्ति काल में सविशेष कार्य रूप से प्रकट हो गया। मेरा यह मत दोष रहित है। फिर भी यदि तुम्हें दोष दीखता हो तो उसे निःशंक होकर कह सकते हो ॥१४३॥

सांख्य मत में दोष दर्शन

सदयुज्यत येन गुणेन पुरा,
प्रकृतौस इहास्ति न वेति वद ।
यदि विद्यत एव पुरा प्रकृता-
वधुनापि विशेषयुतत्वमसत् ॥१४४॥

उत्पत्ति से पूर्व सत् कार्य जिस गुण से युक्त होकर अपने कारण में था। वह गुण इस कारण में है या नहीं इसे बतलाओ। यदि उत्पत्ति से पूर्व वह गुण कारण में था ही, तो कार्य दशा में विशेष रूप से युक्त हो गया, ऐसा कहना असत् ही है।

कार्य, उत्पत्ति से पूर्व अपने जिस गुण से संयुक्त हो अपने कारण में था, वह गुण यदि कारण में पूर्व विद्यमान है, तो कार्य दशा में विशेष गुण से संयुक्त कहना असङ्गत ही होगा। क्योंकि कार्य का गुण कारण में उत्पत्ति से पूर्व भी था ही तो भला उत्पत्ति के बाद कार्य में क्या विशेषता आ गई ॥१४४॥

यदि नास्ति पुरा स गुणःप्रकृता-
वसदुद्भवनं भवतोऽभिमतम् ।

४   ३   ५

जननेन च सत्वमुपात्तवतो,

जनिमत्त्वत एव विनष्टिरपि ॥१४५॥

यदि कारण में कार्य का वह गुण उत्पत्ति से पहले नहीं था तो असत् की उत्पत्ति आपको भी मान लेनी ही पड़ी, साथ ही उत्पत्ति से प्राप्त होनेवाले कार्य की सत्ता मानने पर उसका विनाश भी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि उत्पत्तिशील होने से उनका नाश अवश्यंभावी है।

यदि जन्म से पूर्व कार्य का गुण कारण में न माना जाय, तो असत् पदार्थ का जन्म आप को भी मानना पड़ा और जो उत्पन्न हो कर सत्ता को प्राप्त करता है, वह काल पाकर नष्ट भी अवश्य होता ही है ॥१४५॥

१   ३   ६   २

भवतोऽभिमतं परिहर्तुमिदं,

७   ५   ८   ४

न कथञ्चन शक्यत इत्यमुतः।

१२   १०

कणभक्षमतेन समत्वमिदं,

६   ११   १३

भवतोऽभिमतं शनकैरगमत् ॥१४६॥

आपको अभिमत, इस असत् की उत्पत्ति और सत् के विनाश का, आप की पूर्वोक्त युक्तियों से किसी भी प्रकार निराकरण नहीं हो सकता। इसके सिवा आपका यह अभिमत सिद्धांत, क्रमशः कणाद मत की तुल्यता की प्राप्ति कर रहा है।

कणाद ने असत् घट की उत्पत्ति और उत्पन्न हुए सत् घट का विनाश माना है। यही आप को भी मानना पड़ रहा है। ऐसी परिस्थिति में आप वैशेषिक मत को ही स्वीकार कर रहे हैं। उक्त दोष का निराकरण आप किसी प्रकार कर नहीं सकते ॥१४६॥

असतोभवनं[1] नशनं[3] च[2] सतः,
कणभोजिमतं[४] विदितं[६] कविभिः[५]।
उपपत्तिविरुद्धतया[७] सुभृशं,
तदभाणि[९] मयापि[८] विरुद्धतया ॥१४७॥

असत् का जन्म और सत् का नाश कणाद का मत है। इसे पूर्वाचार्यों ने समझा है, साथ ही युक्ति विरुद्ध होने के कारण उन्होने इसे दोष युक्त भी कहा है। अतः मैं भी युक्ति विरुद्ध होने से उसे असंगत ही मानता हूँ।

वैशेषिकों ने अत्यंत असत् घट की उत्पत्ति और उत्पन्न हुए सत् घट का विनाश होना स्वीकार किया है। ऐसा समझ कर ही पूर्वाचार्यों ने युक्ति विरुद्ध होने कारण इस विषय में दोष बतलाया है। वैसे ही श्रुति और युक्ति से विरुद्ध होने के कारण मैं भी कणाद मत को असंगत मानता हूँ ॥१४७॥

कणाद मत में गीतोक्त दोष

८ ७
प्रतिषिद्धमिदं कणभोजिमतं-

२ १
हरिणापि समस्तगुरोर्गुरुणा ।

४ ३
वचनेन तु नासत इत्यमुना,

६ ५
ब्रुवता च पृथातनयाय हितम् ॥१४८॥

समस्त गुरुओं के गुरु भगवान् श्रीकृष्ण ने 'नासतो विद्यते भावो' इस वाक्य से पृथापुत्र अर्जुन के कल्याणार्थ उपदेश करते हुए इस कणाद मत का निषेध ही किया है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' [गी० २।१६] असत् का जन्म नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता, इस वाक्य द्वारा अर्जुन के हित का उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्टरूप से वैशेषिक मत का खण्डन किया है। अतः इस मत को स्वीकार करने वाले तुम्हारा सिद्धांत भी भगवान् के वाक्य से विरुद्ध है ॥१४८॥

दिगम्बर मत में दोष

१ ३ २ ४
असतश्च सतश्च न जन्मभवे-

६ ५
दिति पूर्वमवाद्युपपत्तियुतम् ।

७ ९ ८
सदसच्च न जायत एव कुतो,
१३ १२ ११ १४ १०
नहि वस्तु तथाविधमस्ति यतः ॥१४९॥

असत् और सत् का जन्म नहीं होता यह पहले तर्क के सहित कहा गया था, तो फिर उभय रूप का ही जन्म होता है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ? ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि सदसद् रूप वस्तु होती ही नहीं।

सत् और असत् के जन्म का युक्ति प्रमाण से निराकरण कर देने पर यदि सदसद् उभय रूप का जन्म दिगम्बर मानने लग जाए, तो यह दूर से ही हेय है। क्योंकि सदसद् उभय रूप वस्तु होती ही नहीं है। जैसे प्रकाश और अंधकार विरोधी होने के कारण संघात को प्राप्त नहीं करते। वैसे ही सद् असद् उभय रूप वस्तु तो शशभृंग के समान सर्वथा असत् है, फिर भला उनका जन्म मानना असंगत ही है ॥१४९॥

अनिर्वचनीय वाद की समीचीनता

२
सदसत्त्वमतीत्य मनः प्रभृते-
५ ३ ४ ६ १
र्नकथञ्चन वृत्तिरिहास्ति यतः।

७
तत एव मनःप्रमुखस्य भवो,
न भवेदिति सर्वसुवेद्यमिति ॥१५०॥

क्योंकि सत्, असत् और सद्-असद्, इन सभी पक्षों का त्याग कर मन आदि संपूर्ण प्रपंच का किसी भी प्रकार से जन्म संभव नहीं है। जब कि पूर्वोक्त कारणों से मन आदि का जन्म होता ही नहीं, बस यही संपूर्ण वेदांत से जानने योग्य पदार्थ है, ऐसा सिद्ध हुआ।

पूर्वोक्त सद् आदि सभी पक्षों का खण्डन कर देने पर यही बात निश्चित हुई कि किसी भी प्रकार से मन और उसकी जाग्रत् आदि अवस्थायें उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ये समस्त प्रपंच मरु-मरीचिका के जल के समान मिथ्या ही प्रतीत होते हैं। बस यही संपूर्ण वेदांत रहस्य विदों का ज्ञातव्य पदार्थ है। इस प्रकार अनिर्वचनीय वाद की सिद्धि हो जाती है ॥१५०॥

अनिर्वचनीय वाद में श्रुति प्रमाण का प्रदर्शन

यदि नाम कथञ्चिदमुष्यभवः,

सदसत्त्वमपेक्ष्य भविष्यति वः।

अमृषात्वममुष्य तथापि न तु,

श्रुतिरस्य मृषात्वमुवाच यतः ॥१५१॥

यदि तुम्हारे मत में उक्त सद् आदि वादों की अपेक्षा कर किसी भी प्रकार उस नामरूपात्मक जगत् का जन्म होगा, तो उसकी सत्यता टिक नहीं सकती क्योंकि श्रुति ने बार-बार इस संसार के मिथ्यात्व का निरूपण किया है।

तुम्हारे मत में किसी भी सद् आदि वाद का आश्रय लेकर यदि जगत् का जन्म किसी प्रकार मान भी लिया जाय, तो भी उसमें मिथ्यात्व सिद्ध होकर ही रहेगा। क्योंकि श्रुति ने जगत् को बार-बार मिथ्या कहा है "आत्मैवेदं सर्वम्" [छा० २।१५।२] यह सब आत्मा ही है। "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" [मु० २।२।११] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [छा० ३।१४।१] यह सब ब्रह्म ही है। यह संपूर्ण नामरूप ब्रह्म स्वरूप ही है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" [छा० ६।४।१] नाम रूप विकार वाणी से कहने मात्र के लिये है। इन सभी श्रुतियों ने जगत् का मिथ्यात्व अन्वयव्यतिरेक द्वारा स्पष्ट उद्घोष किया ॥१५१॥

मन आदि के मिथ्यात्व की सिद्धि से तात्पर्य की जिज्ञासा

३ २ ४ १
मनसोनृततैवमवादि यतः,
५ ६ ६ ८ ७
तत एव हि तस्य मृषा चरितम्।
१०
यत एव मृषा मनसश्चरितं,
तत एव पुरोदितसिद्धिरभूत् ॥१५२॥

क्योंकि श्रुति प्रमाण से मन में मिथ्यात्व ही कहा गया। इसीलिये मन का व्यापार संकल्प आदि भी मिथ्या है। जबकि मन के व्यापार मिथ्या ही हैं। अतएव मेरे पूर्वोक्त कथित सिद्धांत की सिद्धि हो गई।

अपौरुषेय वेद वाक्य द्वारा जगत्कारण, मन, उसके संकल्प आदि व्यापार एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओं में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर यही निश्चित् हुआ कि निर्गुण निराकार निर्विशेष अद्वितीय आत्मा ही अपना स्वरूप है और उसी को मैंने पूर्व प्रसंग में कहा भी है ॥१५२॥

पूर्वोक्त विषय का विवरण

यदपेक्ष्य[1] तु[3] नाम[5] भवेत्त्रितयं[2],
परमात्मपदस्य[4] तुरीयमिति ।
तदसत्यमसत्यगुणस्तु[6] यतः[8],[7]
परिनिर्मितसर्पविसर्पणवत् ॥१५३॥

जिन जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं की अपेक्षा करके परमात्मपद का 'तुरीय' यह नाम होता है। वे अवस्थायें मिथ्या हैं। क्योंकि वे रज्जु में कल्पित सर्प और उसके चलन आदि व्यापार के समान मिथ्या ही हैं।

जब रज्जु में सर्प ही कल्पित है, तो उस सर्प के चलन आदि व्यापार के मिथ्यात्व में कहना ही क्या है? ठीक ऐसे ही मन में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर उसके व्यापार एवं अवस्थाओं के मिथ्यात्व में संदेह नहीं रहता। क्योंकि धर्मी मिथ्या सिद्ध हो जाने पर उसके धर्म सुतरां मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं ॥१५३॥

जीव ब्रह्म की एकता रूप प्रमेय अर्थ का उपसंहार

४ १
निखिलस्य मनः प्रमुखस्य यतो,

५ ७ ३ २
वितथत्वमवादि पुरा तु मया।

६ ८
श्रुतियुक्तबलेन ततोऽद्वयकं,

परमक्षरमेव सदन्यदसत् ॥१५४॥

क्योंकि मैंने पहले ही मन आदि संपूर्ण जगत् में मिथ्यात्व श्रुति युक्ति के बल से बतलाया है। अतः अद्वितीय परम अक्षर तत्त्व त्य है। इससे भिन्न सभी मिथ्या हैं।

मैंने श्रुति और युक्ति से संपूर्ण प्रपंच में मिथ्यात्व सिद्ध है। अतः अब सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य ीय सर्वाधिष्ठान परमात्म तत्त्व ही त्रिकालाबाधित सिद्ध हुआ। श्रुति ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से सत्, चेतन अनंत कहा है। उससे भिन्न वस्तु को 'अतोऽन्यदार्तम्' [बृ० ३।४।२] ाक्य से मिथ्या कहा है। अतः जीव ब्रह्म की एकता वेदांत प्रति-तत्त्व को तू स्वीकार कर ॥१५४॥

जगत् मिथ्यात्व में श्रुति प्रमाण का प्रदर्शन

१
यदपूर्वमबाह्यमनंतरकं,

६ ५ ४ २ ३
न च किञ्चन तस्य भवत्यपरम्।

इति[१०] वेदवचोऽनुशशासयतो,

वितथं[९] परतोन्यदतः[८][११] प्रगतम् ॥१५५॥

जो वह ब्रह्म तत्व कारण रहित, कार्य रहित और जन्मादि से रहित है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। क्योंकि परमात्मा से भिन्न संपूर्ण संसार मिथ्या है। इसका अनुशासन वेद वाक्य ने किया है। अतः ऐसा ही ज्ञातव्य है। "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनंतरमबाह्यम्" [बृ० २।५।१६] वह यह ब्रह्म बाह्याभ्यंतर भाव से रहित पूर्वापर भाव से रहित तथा स्वतः सिद्ध है। "नेह नानास्तिकिञ्चन" [बृ० ४।४।१६] यहाँ नाना कुछ भी नहीं। "यदल्पं तन्मर्त्यम्" [छा० ७।२४।१] जो अल्प है, वह विनाशी यानी मिथ्या है। इन सभी श्रुतियों ने परमात्मा में पारमार्थिकत्व और प्रपंच में मिथ्यात्व के साथ-साथ जीव ब्रह्म की एकता का उपदेश भी महावाक्यों द्वारा स्पष्ट रूप से किया है ॥१५५॥

प्रतिषिध्य[२] यतो[१] बहिरन्तरपि,

स्वविलक्षणमात्मन[३] उक्तवती[५]।

अवबोध[४]घनत्वमतोन्यदस[६]–

ल्लवणैक[७]रसत्वनिदर्शनतः ॥१५६॥

क्योंकि ब्रह्म के बाहर और भीतर अन्य पदार्थ का निषेध कर आत्मा से विलक्षण प्रपंच का बाध कर सच्चिदानन्द ब्रह्म आत्मा का निरूपण श्रुति ने किया है। साथ ही उससे भिन्न को मिथ्या भी कहा है। इस विषय में लवण पिंड के एकरसत्व का दृष्टांत भी दिया है।

'स यथा सैन्धवेधनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानधनः' [बृ० ४।५।१३] जैसे नमक की डली बाहर भीतर सभी ओर से नमकीन ही है, वैसे ही अरे मैत्रेयि ! यह प्रत्यगभिन्न आत्मा बाहर-भीतर सभी ओर से सच्चिदानन्दघन स्वरूप ही है। इस दृष्टांत से बाह्याभ्यंतर भाव का निषेध कर आत्मा से विलक्षण जाग्रत् आदि प्रपंच का निषेध कर जीव ब्रह्म की एकता को ही पारमार्थिक तत्त्व श्रुति ने कहा है, उससे भिन्न को नहीं ॥१५६॥

शोधित तत्त्वम् पदार्थ का एकत्व वर्णन

लवणैकरसत्वसमं[1] भणितं[5],
स्वविलक्षणवस्तुनिषेधनतः[2] ।
अवबोधघनं[4] परमात्मपदं[3],
त्वम्[10]अवेहि[9] तद्[8]अस्मि[7] सदाहमिति[6] ॥१५७॥

बाह्याभ्यंतर एकरस लवणपिण्ड के समान आत्मा से भिन्न वस्तु का निषेध पूर्वक कार्य-कारणभाव शून्य ज्ञान-स्वरूप परमात्मा ही अपना स्वरूप है। अतः मैं वही हूँ, ऐसा तू जान।

जैसे बाहर-भीतर एकरस लवणपिण्ड होता है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है। उस ब्रह्म का उपदेश अनात्मपदार्थ का निषेध पूर्वक श्रुतियों में किया गया है। वही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार जानकर तू उसमें स्थित हो जा ॥१५७॥

अखण्डार्थ का विवरण

१ ३ २ ४
अणु नो न च तद्विपरीतगुणो,
६ ५ ७ ९ ८
न च ह्रस्वमतो न च दीर्घमपि ।
११
प्रतिषिद्धसमस्तविशेषणकं,
१०
परमक्षरमात्मतयाश्रय भोः ॥१५८॥

आत्मा अणु नहीं है और न उससे विपरीत महान ही है, न ह्रस्व है और न दीर्घ ही है। अतः हे शिष्य ! समस्त विशेषणों से रहित परम अविनाशी तत्त्व का तू निजरूप से आश्रय ले।

स्थूलत्व, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि संपूर्ण अनात्म धर्मों का निषेध आत्मा में किया गया है। वह आत्मा निर्विशेष सर्वश्रेष्ठ अविनाशी और अखंड एकमूरत है। उसी तत्त्व को तू अपना रूप मानकर उसमें स्थिर हो जा ॥१५८॥

शोधित त्वं पदार्थ की प्रधानता से अखण्डार्थ का वर्णन

[1]असुबुद्धिशरीर[3]गुणान् [2]षडिमा–

न[4]विवेकिजनैर्दृशिधर्मतया ।

प्रतिपन्नतमान्प्रविहाय शनै–

[5]र्दृशिमात्र[7]मवेहि सदा[6]हमिति ॥१५८॥

प्राण, बुद्धि एवं शरीर के क्षुधा, पिपासा, सुख, दुःख, जन्म और मरण इन छः धर्मों को अविवेकी ने आत्मा के धर्म मान रक्खा है। इन्हें परित्याग कर धीरे-धीरे द्रष्टा मात्र मैं हूँ, ऐसा सदा अपने को जान।

क्षुधा, पिपासा आदि उक्त धर्म आत्मा के नहीं किंतु प्राणादि के हैं, आचार्य उपदेश करते हुए शिष्य से कह रहे हैं कि तू इन अनात्म धर्मों को आत्मा के धर्म न मानकर केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म मैं हूँ। ऐसा सदा जान। इसी से तेरा कल्याण होगा ॥१५८॥

जीवन्मुक्ति के आनंदानुभव का सदृष्टांत आदेश

[3]अहिनिर्ल्व[2]यनीम[4]हिरात्मतया,

जगृहे परिमोक्षण[1]तस्तु पुरा ।

८ ६ ५ ७
परिमुच्यतुतामुरगः स्वबिले,

११ ९ १२ १०
न पुनः समवेक्षत आत्मतया ॥१६०॥

जैसे सर्प ने केंचुली को त्यागने से पहले उसे आत्मा मान रक्खा था, किंतु जब वह सर्प उस केंचुली को अपने निवास बिल के ऊपर ही छोड़ देता है तो फिर आत्म रूप से उसे नहीं देखता।

अपनी केंचुली को छोड़ने से पूर्व जैसे सर्प अपना स्वरूप ही समझता था। पर जब वह उसे बिल के ऊपर त्याग देता है, तब वह उसे अपना स्वरूप नहीं मानता है। इसी को 'यथा अहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ताशयीतैवमेवेदं शरीरं शेते' (बृह० ४।४।७) जैसे सर्प से छोड़ी हुई केंचुली बिल में पड़ी रहती है, उसे सर्प अपना स्वरूप नहीं मानता, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी का शरीर प्रारब्ध रूप बिल पर पड़ा रहता है। उसे वह अपना स्वरूप नहीं समझता। इस श्रुति ने भी कहा है ॥१६०॥

४ ६
अविवेकत आत्मतया विदितं,

३ २ ५ १
कुशरीरमिदं भवताप्यहिवत्।

१२ ११ १० ७
अहिवत्त्यज देहमिमं त्वमपि,

९ ८
प्रतिपद्य चिदात्मकमात्मतया ॥१६१॥

जिस प्रकार सर्प पहले केंचुली को अपना स्वरूप मानता था, वैसे ही अविवेक के कारण आप ने भी इस निंदित शरीर को आत्म रूप से जाना है। आप भी चेतन आत्मा को अपना स्वरूप समझकर सर्प के केंचुली-त्याग के समान इस देह को त्याग दो।

सर्प जैसे केंचुली को छोड़ने से पहले अपना स्वरूप समझता है, वैसे ही आप भी आत्मा और आनात्मा के अविवेक से, निंदित इन स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देहों को मैं मान रहे हो, अतः सर्प की केंचुली त्यागने के समान आप भी इन तीन देहों में आत्म बुद्धि का परित्याग कर, विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को ही महावाक्य के आधार पर अपना स्वरूप समझें ॥१६१॥

आत्मा में ज्ञान और अज्ञान का सम्बन्ध नहीं है

रजनीदिवसौ न रवेर्भवतः,
प्रभया सततं युत एष यतः।
अविवेकविवेकगुणावपि तौ,
भवतो न रवेरिव नित्यदृशः ॥१६२॥

सूर्य में दिन और रात्रि होते नहीं हैं क्योंकि यह सूर्य सदा प्रकाश से युक्त है। अतः सूर्य के समान ही सर्वदा प्रकाश-स्वरूप आप में, वे ज्ञान और अज्ञान रूप गुण भी नहीं हैं।

स्वयं प्रकाश-स्वरूप सूर्य में जैसे दिन-रात्रि का अभाव है, वैसे ही नित्य प्रकाश-स्वरूप आप में ज्ञान, अज्ञान, बंध, मोक्ष, जन्म तथा मरण आदि धर्मों का सर्वथा अभाव है। ऐसा आप समझो ॥१६२॥

परिशुद्धविबुद्धविमुक्त दृशे-

रविवेकविवेकविवर्जनतः ।

मम बन्धविमोक्षगुणो भवतो,

न कदाचिदपीत्यवगच्छ भृशम् ॥१६३॥

मुझ परिशुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप द्रष्टा आत्मा में ज्ञान एवं अज्ञान का अभाव होने से बन्ध और मोक्ष कभी भी नहीं होते। ऐसा तू निःसंदिग्ध रूप से जान।

आत्मा अत्यंत विशुद्ध चेतन स्वरूप तथा मुक्त है। उसमें ज्ञान एवं अज्ञान का संबंध नहीं है। अतएव बंध और मोक्ष भी आत्मा में नहीं हैं। वही आत्मा मैं हूँ, ऐसा तुझे पूर्ण रूप से निश्चय करना चाहिये ॥१६३॥

आत्मा में ग्रहण और त्याग नहीं है

न मम ग्रहणोज्झनमस्ति मया,

न परेण दृशेरिति निश्चिनु भोः ।

९ ११ ८ १०
न हि कस्यचिदात्मनि कर्म भवे-

१५ १४ १३ १६ १२ १७
न्न च कश्चिदिहास्तिमदन्य इति ॥१६४॥

हे शिष्य ! मुझ विज्ञान मात्र आत्म स्वरूप में न मुझसे और
ा अन्य से ग्रहण एवं त्याग होते हैं । ऐसा निश्चिय करो । किसी की
ात्मा में कर्म नहीं होता, क्योंकि यहाँ कोई भी मुझसे भिन्न नहीं
ऐसा निश्चित् रूप से समझो ।

हे शिष्य ! निर्विशेष सर्वसाक्षी विज्ञानस्वरूप आत्मा में न
वयं से और न अन्य से ही ग्रहण-त्याग होना संभव है, क्योंकि
ात्मा में कोई क्रिया नहीं होती । आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं
है, जिसके संबंध से वस्तुतः आत्मा में क्रिया की संभावना की जा
के ॥१६४॥

आत्मा के सर्वसाक्षित्व का वर्णन

४ ३
अहमस्मि चरस्थिरदेहधियां,

५
चरितस्य सदेक्षक एक इति ।

७ ६ ८
न भवेदत एव मदन्य इति,

२ १
त्वमवेहि सुमेध इदं सुदृढम् ॥१६५॥

हे सुन्दर बुद्धिवाले शिष्य ! तू इस बात को दृढ़ता से जान, कि मैं जड़ चेतन सभी देहों की बुद्धि का एवं उनके व्यापार का सदा एकमात्र साक्षी हूँ। अतएव मुझ साक्षी से भिन्न कोई नहीं है, ऐसा निश्चय कर।

हे जिज्ञासु शिष्य ! तू इस बात को निश्चित रूप से समझ कि चराचर देहस्थ बुद्धि एवं उनके व्यापार का मैं केवल साक्षी हूँ। इन व्यापारों से मेरा कोई संबंध नहीं। वास्तव में ये चराचर एवं इनके व्यापार कल्पित हैं, मुझसे भिन्न कोई पारमार्थिक तत्त्व नहीं हैं, ऐसा समझ ॥१६५॥

आत्मा के निर्विशेषत्व का वर्णन

गगनेविमले जलदादिमले,
सति वासति वा न भिदास्ति यथा।
त्वयि सर्वगते परिशुद्धदृशौ,
न भिदास्ति तथाद्वयभेदकृता ॥१६६॥

जैसे स्वच्छ आकाश में मेघ आदि मलों के होने और न होने पर आकाश में कोई विशेषता नहीं आती है। वैसे ही तुझ सर्वव्यापक, विशुद्ध, साक्षी चेतन में द्वैतकृत भेद नहीं है।

स्वच्छ आकाश में मेघ, धूली और धुँवां आदि मलों के रहने और न रहने पर कोई भेद नहीं होता, क्योंकि वह निरवयव निर्विशेष और स्वच्छ है। ठीक वैसे ही व्यापक तुझ आत्मा में माया-कल्पित

द्वैत के कारण कोई भेद नहीं है। ये देव, दानव, मानव आदि के कारण भेद औपाधिक है, परमार्थ दृष्टि से जीव और ब्रह्म एक है ॥१६६॥

२ १ ३ ५ ४
अनृतं द्वयमित्यवदाम पुरा,
६ ८ ७
व्यवहारमपेक्ष्य तु गीतमिदम्।
९ १२ १० १३ ११
अनृतेन न सत्यमुपैति युजां,
१५ १४
न मरीचिजलेन नदी ह्रदिनी ॥१६७॥

द्वैत मिथ्या है, ऐसा जो मैंने पहले कहा है वह केवल व्यवहार की अपेक्षा से कहा है। वास्तव में मिथ्या पदार्थ का संबंध सत् पदार्थ से वैसे ही नहीं होता, जैसे मरु-मरीचिकाजल से नदियाँ जलवाली नहीं हो जातीं।

श्रुति तथा युक्ति से संपूर्ण द्वैत प्रपंच में मिथ्यात्व का निश्चय मैंने पहले कराया। यह केवल श्रुति आदि की व्यावहारिक सत्ता मान कर ही किया गया है। वास्तव में जब द्वैत है ही नहीं, तो उसे मिथ्या कहने का प्रसंग भी कहाँ आता है। मिथ्या और सत्य का संबंध कभी भी संभव नहीं, क्या मरुमरीचिका के जल से नदियाँ कभी जलवाली हो सकती हैं? अर्थात् नहीं। अतः द्वैत की अपेक्षा से हम ब्रह्म को अद्वैत कह देते हैं। ब्रह्म के संबंध में जो भी कुछ कहा जाता है वह किसी न किसी की अपेक्षा करके ही कहा जाता है। परमार्थ दृष्टि से निर्विशेष तत्त्व में द्वैत या अद्वैत कुछ भी कहना बनता नहीं है ॥१६७॥

आत्मा में कल्पित तीनों अवस्थायें मिथ्या हैं

बहुनाभिहितेन किमु क्रियते,
शृणु संग्रहमत्र वदामि तव ।
त्वयि जागरितप्रभृति त्रितयं,
परिकल्पितमित्यसदेव सदा ॥१६८॥

हे शिष्य ! अनेक पूर्वोत्तर पक्ष सुनने से तुझे क्या प्रयोजन है। इस प्रसंग में मैं संक्षेप से बतलाता हूँ, तू सुन। तुझ विशुद्ध कूटस्थ आत्मा में जाग्रत् आदि तीनों अवस्थायें एवं उनके धर्म कल्पित हैं। अतः वे सदा मिथ्या ही हैं।

हे शिष्य ! अब तक जो कुछ हमने कहा इतना ही पर्याप्त है। इससे अधिक शास्त्रार्थ सुनने का कोई प्रयोजन नहीं है। संक्षिप्त में इतना ही समझो कि नित्य अखण्ड आनंद स्वरूप तुझ कूटस्थ आत्मा में जाग्रत आदि तीनों अवस्थायें सदैव अज्ञान से कल्पित हैं। अतएव वे मिथ्या हैं। इनमें सत्यत्व का निश्चय भ्रम-मात्र है। इस प्रकार त्वं पदार्थ का शोधन तुझे कर लेना चाहिये ॥१६८॥

व्यापार सहित मन में मिथ्यात्व का वर्णन

परिकल्पितमित्यसदित्युदितं,
मन इत्यभिशब्दितमागमतः ।

उपपत्तिभिरेव च सिद्धमतो,

भवतोऽन्यदशेषमभूतमिति ॥१६९॥

मन इस नाम से कहा गया तत्त्व वेदशास्त्र द्वारा मिथ्या ही माना गया है। यह कल्पित है, अतएव असत् कहा गया है। यह बात अनेक युक्तियों से सिद्ध हो चुकी है। अतः विशुद्ध चैतन्य आपके स्वरूप से भिन्न संपूर्ण जगत् असत् है। ऐसा आप निश्चय करो।

वेदशास्त्र में मन शब्द से कहा जानेवाला, व्यावहारिक जीव है। वह कल्पित होने से मिथ्या है। इस बात को अनेक युक्तियों से सिद्ध किया गया है। जैसे सीप मे कल्पित रजत मिथ्या है। वैसे ही आत्मा में कल्पित मन और उसके व्यापार मिथ्या हैं। केवल आप सच्चिदानन्द स्वरूप सत्य हो। उससे भिन्न संपूर्ण विश्व कल्पना मात्र है, ऐसा तू निश्चय कर ॥१६९॥

तत् पदार्थ का शोधन

यदबाह्यमनन्तरमेकरसं,

यदकार्यमकारणमद्वयकम्।

यदशेषविशेषविहीनतरं,

दृशिरूपमनन्तमृतं तदसि ॥१७०॥

जो जन्म रहित, सीमा शून्य और एक रस है एवं जो कार्य रहित, कारण रहित, तथा द्वैत से दूर है। ऐसे ही जो अशेष-विशेष से अत्यंत असंबद्ध है, वही अनंत चेतन सत् तत्त्व तू है।

जन्म-मरणादि बाह्य तत्त्व जो नहीं है। जिसमें देश काल की हद भी नहीं है, जो एक रस है। निर्विकार कार्य-कारण भाव से रहित द्वैत वर्जित संपूर्ण कर्तृत्व भोक्तृत्वादि औपाधिक धर्मों से असंबद्ध चिन्मात्र देश, काल वस्तू के परिच्छेद से रहित और सत्य स्वरूप है। वही परमात्मा तू है। तुझमें किसी प्रकार का संसार धर्म नहीं है। "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म" [बृह० २।५।१९] वह यह ब्रह्म कारण-कार्य से रहित बाह्याभ्यंतर से शून्य है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" [श्वे० ६।८] उस ब्रह्म का न कोई कार्य है, न करण ही है। "एकमेवाद्वितीयम्" [छा० ६।२।१] एक ही अद्वितीय तत्त्व है। "चिदेकरसः" [नृसि० उत्त० १] एकरस चिन्मात्र स्वरूप है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तै० २।१] ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनंत स्वरूप है। "अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" [बृह० ४।३।१४] यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप हो जाता है। "तत्त्वमसि" वह तू है, इत्यादि अनेक श्रुतियों का संग्रह इस श्लोक में किया गया है ॥१७०॥

अखण्डार्थ का उपसंहार

इयदेव मयोपनिषत्सु पदं,
परमं विदितं न ततोऽस्त्यधिकम् ।

इति[६] पिप्पलभक्षइवाभ्यवद-[११]

दवशिष्टमतिं[१०] विनिवारयितुम् ॥१७१॥

जैसे पिप्पलाद ऋषि ने अपने शिष्य से कहा था, कि यही सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान है, वैसे ही मैंने भी उपनिषदों में प्रतिपादित परम तत्त्व ब्रह्मस्वरूप को जाना है। इससे अधिक अन्य कोई तत्त्व नहीं है और न ज्ञातव्य ही है। इस प्रकार ज्ञातव्य शेष बुद्धि का निवारण कर दिया गया।

पिप्पलाद ऋषि ने शुकेशा भारद्वाज आदि से कहा था कि "एतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति" (प्र० ६।७) इससे श्रेष्ठ ब्रह्म को मैं नहीं जानता अतः यही परतत्व है इत्यादि ऐसे ही मैंने भी श्रुति रहस्य प्रतिपादित परतत्व को जाना है। इससे अधिक ज्ञातव्य पदार्थ को मैं नहीं जानता और न इससे अधिक ज्ञातव्य तत्त्व ही है। इस प्रकार श्रुति ने जो कहा है, वह शेष ज्ञातव्य बुद्धि की निवृति के लिये कहा है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बाद कुछ जानना शेष नहीं रह जाता ॥१७१॥

आचार्य उपदेश का फल

इतरोऽपि[१] गुरुं प्रणिपत्य जगौ,

भगवन्निति तारितवानसि[७] माम्[६]।

५ ४ ३

अवबोधतरेण समुद्रमिमं,

२

मृतिजन्मजलं सुखदुःखझषम् ॥१७२॥

शिष्य ने गुरु को प्रणाम कर कहा, हे भगवन् ! इस जन्म-मरण रूप जल और सुख-दुःख रूप मकर से परिपूर्ण संसार समुद्र में मुझ डूबते हुये को आपने ज्ञानरूपी जहाज से पार कर दिया।

आचार्य के उपदेश के बाद शिष्य ने आचार्य के चरणों में प्रमाण कर कहा, आप षडैश्वर्य से युक्त हैं और मैं इस संसार समुद्र में पड़ा हुआ था। इस संसार समुद्र में गोता खाते हुये मुझ दीन को आपने उपनिषद् ज्ञान रूप जहाज से पार कर दिया। इसे ही श्रुति ने "ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति" [प्रश्न० ६।८] उन सुकेशा आदि शिष्यों ने उन आचार्य की अर्चना करते हुये कहा कि "आप ही हमारे पिता हैं। जो हमें अविद्या से पार कर तार दिया है।" इन वाक्यों में कहा है। इसी का संग्रह इस श्लोक में किया गया है ॥१७२॥

शिष्य की कृत-कृत्यता

१

अधुनाऽस्मि सुनिर्वृत आत्मरतिः,

कृतकृत्य उपेक्षक एकमनाः।

४ ३ २
प्रहसन्विषयान् मृगतोयसमान्-

७ ६ ५
विचरामि महीं भवता सहितः ॥१७३॥

अब मैं आत्मरति हूँ, कृत-कृत्य हूँ, परमशांत, उदासीन आत्म परायण और आत्मानंद रसामृत से परिपूर्ण हूँ। मृगतृष्णिका के जल के समान इन विषयों को असत् समझकर हँसता हुआ आपके साथ पृथ्वी में विचरता रहूँगा।

सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा में मैं अब रमण कर रहा हूँ इसीलिये परम शांत हूँ, कृत-कृत्य हूँ, मुझे अब कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह गया है। मैं संसार से उदासीन हूँ, केवल आत्मा में ही संलग्न हूँ और आत्मा से भिन्न संपूर्ण संसार को मैं अब मृगजल के समान समझ रहा हूँ। मेरे मन के शोक निवृत्त हो गये और अब मैं अति हर्ष रूप अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ। अतः आप जीवनमुक्त महापुरुष के साथ मैं भी आनन्द में विभोर हो प्रारब्ध क्षय पर्यन्त यदृच्छा से संतुष्ट हो इस धरती पर विचरता रहूँगा ॥१७३॥

शिष्य आचार्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है

६ ५ ४
तव दास्यमहं भृशमामरणात्,

३ २ १
प्रतिपद्य शरीरधृतिं भगवन्।

करवाणि मया शकनीयमिदं,

तवकर्तुं मतोऽन्यदशक्यमिति ॥१७४॥

हे भगवन् ! प्रारब्धानुसार अनायास शरीर पोषणार्थ प्राप्त हुई वस्तु को स्वीकार कर मरण पर्यन्त मैं आपकी यथा शक्ति सेवा करूँगा। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कर सकता। बस इतना मात्र ही मैं कर सकता हूँ।

हे संसार से तारक प्रभो ! मुझे प्रारब्धानुसार शरीर धारण के लिये जो कुछ प्राप्त हो जायेगा उसी को स्वीकार कर आजीवन मैं आपकी सेवा करूँगा। बस इतना ही मैं कर सकता हूँ। इससे अधिक करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। ऐसी शिष्य की प्रार्थना शिष्ट परंपरा के अनुसार है, क्योंकि "सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां चापि सह दास्यमिति [बृ० ४।४।२३] वह मैं आप भगवान् के लिये सेवार्थ इस शरीर के सहित विदेह राज्य को समर्पित करता हूँ। इस वाक्य से जनक ने याज्ञवल्क्य महर्षि के प्रति ऐसी कृतज्ञता व्यक्त की थी ॥१७४॥

ग्रंथ श्रवण का फल

गुरुशिष्यकथाश्रवणेन मया,

श्रुतिवच्छ्रुतिसारसमुद्धरणम् ।

कृतमित्थमवैति य एतदसौ,

न पतत्युदधौ मृतिजन्मजले ॥१७५॥

मैंने श्रुति तुल्य इस आत्मा अनात्मा के एकत्वरूप गुरू-शिष्य कथा श्रवणकर श्रुतिसार समुद्धरण रचा है। जो इसका अच्छी प्रकार से अध्ययन करेगा वह जन्म-मरण जल से परिपूर्ण भवसागर में नहीं पड़ेगा।

गुरु-शिष्य के संवाद रूप में कही गई यह कथा श्रुति के समान है। इसे श्रवण कर मैंने श्रुतिसार समुद्धरण को रचा है। विवेक वैराग्य षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व रूप साधन चतुष्टय से संपन्न जो कोई अधिकारी सम्यक् प्रकार से इसे जानेगा, वह जन्म-मरणादि से परिपूर्ण संसार सागर में नहीं गिरेगा अर्थात् वह मुक्त हो जायेगा ॥१७५॥

इस ग्रंथ के अधिकारी का निर्देश

भगवद्भिरिदं गुरुभक्तियुतैः,
पठितव्यमपाठ्यमतोऽन्यजनैः।
गुरुभक्तिमतः श्रुतिभाति यतो,
गुरुणोक्तमतोऽन्य भजन्न पठेत् ॥१७६॥

गुरु भक्ति से युक्त साधन-चतुष्टय से संपन्न पुरुषों को ही इस ग्रंथ का पाठ करना चाहिये। इनसे भिन्न पामर आदि को इसका पाठ नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेदांत का गोपनीय अर्थ गुरु भक्ति से युक्त को ही भासता है। अतः आचार्य मुख से ही इसे पढ़े अन्य से नहीं।

गुरु प्रसाद रुप इस पुस्तक का पाठ, गुरु में श्रद्धा एवं भक्ति से संपन्न सन्यासियों को ही आचार्य मुख से करना चाहिये। पामर

आदि पुरुषों को नहीं और स्वतंत्र भी पाठ न करें, क्योंकि जो गुरु में श्रद्धा भक्ति वाला होता है उसीके प्रति वेदांत प्रकाशित होता है, अन्यों के प्रति नहीं। इसी बात को "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः [श्वे० ६।२३] जिसकी परमेश्वर में पराभक्ति है और जैसी परमात्मा में है वैसी गुरु में भी हो तो उसी महान् आत्मा के प्रति श्रुति प्रतिपादित अर्थ प्रकाशित होता है। इस वाक्य से श्रुति ने भी कहा । तात्पर्य यह है, आचार्य भक्ति से शून्य पुरुष के प्रति ग्रंथ की भी कृपा नहीं होती ॥१७६॥

गुरु भक्ति युक्त साधक वेदांत का अधिकारी क्यों ?

निगमोऽपि[2] च[1] यस्य इति प्रभृति–

गुरुभक्तिमतः[5] कथितं[4] गुरुणा[3]।

प्रतिभाति[7] महात्मन[6] इत्यवद–[8]

त्पठितव्यमतो[10] गुरुभक्तियुतैः[9] ॥१७७॥

वेद के गोपनीय रहस्य वेदांत में भी "यस्य देवे" इत्यादि वाक्य से यही बतलाया गया है कि जो आचार्य की भक्ति से युक्त होता है, उसी के प्रति वेदांत के तात्पर्य का प्रकाश होता है। अतएव गुरु भक्ति से युक्त पुरुष ही उसका अधिकारी है।

संपूर्ण श्रेय और प्रेय को बतलाने वाले अपौरुषेय वेद वाक्य ने भी यही कहा है कि जिसको परमेश्वर तथा आचार्य में तुल्य भक्ति

होती है, उसी को श्रुति के तात्पर्य का ज्ञान होता है। अन्यों को नहीं। "आचार्यवान् पुरुषो वेद।" गुरु भक्त साधक ही परमात्म तत्त्व को जानता है। इस वाक्य से भी यही सिद्ध होता है। वेदांत के रहस्य को जानने के लिए आचार्य की परमावश्यकता है। अतएव मैंने भी कहा कि आचार्य भक्ति से संपन्न पुरुष आचार्य मुख से इस ग्रंथ का श्रवण करें ॥१७७॥

ग्रंथ के अंत में मंगलाचरण

येषां धीसूर्यदीप्त्याप्रतिहतमगमन्नाशमेकांततो मे,
ध्वान्तं स्वांतस्य हेतुर्जननमरणसंतानदोलाधिरूढेः।
येषां पादौ प्रपन्नाः श्रुतिशमविनयैर्भूषिताः शिष्यसंघाः,
सद्योमुक्ताः स्थितास्तान्यतिवरमहितान्यावदायुर्नमामि ॥१७८॥

जन्म-मरण परंपरा के भूले में आरूढ़ मुझ अज्ञानी के अंतःकरण में स्थित अज्ञान का जिनके ज्ञान-सूर्य प्रकाश से सर्वथा नाश हो गया और जिनके शरणापन्न हो, शम, दम, आदि साधन संपन्न शिष्य समुदाय शीघ्र ही मुक्त हो स्थित हैं। उन यतियों में श्रेष्ठ गुरुदेव को मैं आयु पर्यन्त नमस्कार करता हूँ।

जन्म-मरण की परंपरा एक भूले के समान है। क्योंकि कभी ऊँची कभी नीची योनियों में, कर्म बन्धन से बँधे जीव को जाना पड़ता

है। ऐसे झूले में आरूढ़ मुग्ध अज्ञानी के अज्ञानान्धकार को जिन्होंने ज्ञानरूप सूर्य के किरणों से सर्वथा नष्ट कर डाला और जिनके पादपद्मों के आश्रय लिये शास्त्रज्ञान शम, दम आदि साधन तथा विनय भाव रूप गुणों से विभूषित शिष्य समुदाय ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही मुक्त हो, जीवन मुक्ति का आनंद ले रहे हैं, उन परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवत् पूज्यपाद को मैं आजीवन नमस्कार करता हूँ ॥१७८॥

२ १ ३

भूः पादौ यस्य खं चोदरमसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे,

५

कर्णावाशाः शिरोद्यौर्मुखमपिदहनोयस्य ४

वास्तव्यमब्धिः।

७ ६ ६ ८

अन्तःस्थं यस्यविश्वं सुरनरखगगो भोगिगन्धर्वदैत्यैः,

१०

चित्रं रंरम्यते तं त्रिभुनवपुषं विष्णुमीशंनमामि

॥१७९॥

पृथ्वी जिनके चरण हैं, आकाश उदर, वायु प्राण, चन्द्रमा, सूर्य, नेत्र, दिशायें श्रोत्र तथा स्वर्ग मस्तक हैं और जिनके अग्नि मुख तथा समुद्र सूत्रालय जिनके अन्तःस्थल में देव, नर, पक्षी, पन्नग, पशु नाग, गन्धर्व एवं दैत्य आदि से युक्त विचित्र संसार क्रीड़ा कर रहा है। उन त्रिलोकशरीरधारी व्यापक परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूं।

जिस विराट् रूप परमेश्वर के शरीर में सारा विश्व समाया हुआ है, उस सर्वाभिन्न, सर्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्द परमेश्वर को बारंबार नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार पूर्ण रूप की वंदना से शुक्ल यजुर्वेदी "पूर्णमदः" इत्यादि शांति वाक्य का स्मरण करते हुये ग्रंथकार इस ग्रंथ को पूर्ण करते हैं। यह ग्रंथ पूर्ण है। इसका प्रतिपाद्य अर्थ परमेश्वर पूर्ण है। अतएव इसके अध्ययन अध्यापन करने वाले पूर्णता को प्राप्त करें, यही इस अंतिम मंगलवाक्य का तात्पर्य है॥१७६॥

इति श्रीमत्तोटकाचार्य विरचितं
महामण्डलेश्वर कैलासपीठाधीश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि
सम्भूतरत्तव्याख्यानविभूषितं समाप्तम्॥
॥ श्री शङ्करः प्रीयताम्॥

अथ हस्तामलकवार्तिकं प्रारभ्यते

ॐ श्रीगणेशाय नमः। अथ श्रीशङ्कराचार्य्यो, बालंपप्रच्छयत्नतः।
कस्त्वं शिशो किमर्थं वा, जडवद्वर्तसे वद॥१॥

इति श्रुत्वावचोभाष्यकारस्य मनसाशिशुः।
तं सविज्ञायसर्वज्ञं, सर्वब्रह्मविदांवरम्॥२॥

स्वानुभूति वचांस्यद्धावेदांतार्थमयानि च।
ब्रह्मैक्यनिष्ठान्यात्मज्ञः, प्रोवाचगुणसागरः॥३॥

नवर्णोविप्राद्योमयिनच जड त्वादिकलना,
जडोयंदेहादिः प्रभवतिमदाधारचलनः।

अलिप्तोहंशुद्धोगगनइव मे बोधवपुषो,
धियाब्रह्मानन्देनिरवधिमहिम्नोविहरणम् ॥४॥

नभास्योहं बुद्धया सुहृगपिनवाचानकरणै-
र्मदायत्ताः सर्वेमतिवचनचक्षुः प्रभृतयः ।
अवेद्यस्याखण्डानुभववपुषोमेनवरतं,
धियाब्रह्मानन्देनिरवधिमहिम्नोविहरणम् ॥५॥

गतौधर्माधर्मौलयमथ गतौ स्वर्ग नरकौ,
गतौरागद्वेषौप्रविलयमुदारात्मवपुषः ।
गतौभेदाभेदौविगलितमहामोहतमसो,
ममस्वात्मानन्दे निरवधिमहिम्नोविहरणम् ॥६॥

अविद्याकामादिः प्रभवतिनयत्रात्मनिपरे,
विवर्त्तायस्यैतेवियदनिलतेजोऽम्ब्ववनयः ।
न संसारोयस्मिन्जनिमृतिमयोदुःखनिबिडः,
सनित्योबोधात्मानिरवधिरहंसौख्यजलधिः ॥७॥

अहङ्कारातीतोविषयविरहः स्वात्मरसिको,
निराधारोज्योतिर्भ्रमरचित संबन्धरहितः ।
श्रुतीनांसिद्धान्तोऽपरिमितवपुः स्वानुभवतः,
सनित्योबोधात्मानिरवधिरहंसौख्यजलधिः ॥८॥

स्वतःशुद्धोबुद्धः समरसपरानन्दविततो,
धियांसाक्षीवृत्तेः प्रलयमुदयंवेत्ति सततम् ।
क्रियांयः कर्त्तारं विषयमज आभासयति च,
स्वयं ज्योतिः सोहंहृदयकमलार्कोस्मिसुखदः ॥९॥

यथार्कोनेत्राणां नभसिगत एकोपिबहुधा,
प्रकाशंसंधत्तेयुगपदयमात्माखिलधियाम् ।

हृदाकाशेस्थित्वावपुषिधन एकोपिजगतां,
तथाभानंधत्तेसचसुखघनात्माहमजडः ॥१०॥

पुरासृष्टेरेकः स्वयमकल आसीदनिमिषो,
नतेजोनध्वान्तं गुणकृत कलाख्यादिरहितः।
स्वशक्तिमायाख्यामखिलजनिमाश्रित्यसहसा,
ससर्जेदंयोसौसचसुखघनात्माहमजडः ॥११॥

प्रियोवित्तात्पुत्रादसुतनुमतिभ्यः प्रिय इति,
श्रुतेर्युक्तेः सिद्धोह्यनुभववशात्सर्वजगताम्।
असन्दिग्धोनित्योदृगविषय आत्माचलवपु-
र्य आनन्दः सोहं निरवधि समज्ञान जलधिः ॥१२॥

न दृश्यं नो द्रष्टा न च करणसाध्यं न विमतं,
न जीवोनोपाधिर्न च जनिमृती नैव च जरा।
न सृष्टिर्नोस्रष्टा न च सुकृत पापे समुदिते,
चिदानन्दो यत्रानिशमिहममाक्रीडनमलम् ॥१३॥

शिवाद्याः सर्वज्ञा निखिल मुनयो ब्रह्मरसिका,
विराजन्ते यत्राचलनिजमहिम्नि स्वरसतः।
परे भूमानन्दे समरस पदे तत्र सततं,
विशालाक्रीडा मे भवति सुरवन्द्यामृतमयी ॥१४॥

यमाहुर्वेदान्ताः परमपदमीशोपिवचनै-
रखण्ड ब्रह्माख्यं विधिमुख निषेधैरविरतं,
स एवाहं बालो विधिहरिहरात्मातिविमलो।
निजानन्द क्रीडो विगतकलनोभ्रान्ति रहितः ॥१५॥

इति श्री हस्तामलकवार्तिकम
समाप्तम्